प्रस्तावना ।

द्रव्यसंग्रह यद्यपि ५८ गाथा का एक छोटासा ग्रन्थ है परन्तु श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ति आचार्य ने इस छोटे सेही ग्रन्थ में जैन सिद्धान्त का बहुत बड़ासार भरदिया है, यह ग्रन्थ भाषा कविता में भी रचा गया है और तत्त्वार्थ कथन को कण्ठ करने के वास्ते भाषा द्रव्यसंग्रह हमारे जैनी भाइयों में बहुत प्रसिद्ध है, हमारे नव युवकों को ऐसी पुस्तक की बहुत तलाश थी जो बहुत विस्तार रूप न हो और जिस की स्वाध्याय से जैन तत्त्वार्थ बहुत आसानी से समझ में आजावैं, अपने भाइयों की इस जरूरत को पूरा करने के वास्ते हमने यह टीका लिखी है और आशा करते हैं कि यह ग्रन्थ बहुत ही आसानी से सब भाइयों की समझ में आवैगा और इस ग्रन्थ को पढ़कर फिर अन्य किसी भी जैन ग्रन्थ की स्वाध्याय करने में मुश्किल नहीं पड़ैगी।

इस टीका के लिखने में हमने इस बात का बहुत ज्यादा ख़याल रक्खा है कि जैन धर्म के मोटे मोटे सब ही विषय इस में आजावैं और उनका स्वरूप भी सबकी समझ में आसकै इस कारण जैन धर्म को जानने के वास्ते यदि इस पुस्तक को प्रथम पुस्तक कहाजावै तो बेजा नहीं है। आशा है कि इस पुस्तक का बहुत प्रचार होगा और इस के द्वारा हमारे बहुत भाई जैन धर्म के जानकार बनैंगे।

इस ग्रन्थ की टीका लिखने में हम को बाबू जुगलकिशोर मुख्तार देवबन्द सम्पादक जैन गजट से बहुत मदद मिली है और उन्ही के द्वारा इस का संशोधन हुवा है इस कारण हम उन को धन्यवाद देते हैं।

अन्त में हम विद्वानों से प्रार्थना करते हैं कि इस टीका में जहां कहीं कुछ भी अशुद्धि हो उससे तुरन्त सूचित करैं जिस से आगामी आवृत्ति में वह सब अशुद्धियां दूर कर दीजावैं।

देवबन्द
ता० २८—७—०९

सूरजभानु वकील।

द्रव्य सङ्ग्रह

मंगलाचरण

जीवम जीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥१॥

अर्थ—मैं सदा अपने मस्तक से उसको नमस्कार करता हूं जो जिनवरों में प्रधान हैं और जिसने जीव और अजीव द्रव्य का व्याख्यान किया है और जो देवों के समूह से वंदना किया जाता है

भावार्थ—जिन शब्द का अर्थ है जीतने वाला-मिथ्यात्व और रागादिक के जीतने वाले को जिन कहते हैं। इस हेतु अव्रतसम्यग्दृष्टि, व्रतीश्रावक और मुनि भी एक देशी जिन कहे जा सक्ते हैं इन में गणधर आदिक श्रेष्ठ जिन अर्थात जिनवर हैं इनके भी प्रधान श्री तीर्थंकर देव हैं जिनको इन्द्र भी वंदना करते हैं उन्हीं श्रीतीर्थंकर भगवान को इस गाथा में नमस्कार किया है। वह ही धर्म तीर्थ के चलाने वाले हैं। वस्तु स्वभाव का नाम धर्म है। वस्तु दो ही प्रकार की हैं एक जीव और दूसरी अजीव इन ही दोनों प्रकार की वस्तु का भिन्न भिन्न स्वभाव श्रीतीर्थंकर भगवान ने वर्णन किया है जिससे जीवों का मिथ्यात्व अंधकार दूर होकर वस्तु का सत्य स्वरूप ज्ञात हुवा है और सत्य धर्म की प्रवृत्ति हुई है। इसलिये श्रीतीर्थंकर भगवान के उपकार के स्मरणार्थ श्रीनेमिचंद्राचार्य ने यह मंगला चरण किया है।

इस ग्रन्थ का प्रयोजन भी जीव और अजीव के ही सत्य स्वरूप को श्रीतीर्थंकर भगवान की वाणी के अनुसार वर्णन करना है।

प्रथम अधिकार।

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥२॥

अर्थ—जो जीव है, उपयोगमयहै, अमूर्त्तीकहै, कर्त्ताहै, अपनी देह परिमाणहै, भोक्ताहै, संसारमें स्थित होनेवाला है सिद्धहै और ऊर्ध्व गमन स्वभाव वाला है, वह जीव है।

भावार्थ—इस गाथा में समुच्चयरूप जीव के ९ प्रकार के गुणों का वर्णन किया है। आगामी गाथाओं मे प्रत्येक गुण की भिन्न २ व्याख्या की है इस हेतु यहां इनका भावार्थ लिखने की आवश्यक्ता नहीं है।

(१) जीव है इसका वर्णन गाथा ३ में है (२) उपयोग मय है इसका वर्णन गाथा ४, ५, ६ में है (३) अमूर्त्तीक है इसका वर्णन गाथा ७ में है (४) कर्त्ता है इसका वर्णन गाथा ८ में है (५) भोक्ता है इसका वर्णन गाथा ९ में है (६) देह परिमाण है इसका वर्णन गाथा १० में है (७) संसार स्थित है इसका वर्णन गाथा ११, १२, १३ में है (८, ९) सिद्ध है और ऊर्ध्वगमन स्वभावी है इन दोनों विषय का वर्णन गाथा १४ में है।

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणोय।
ववहारासो जीवो णिच्छयणायदो दु चेदणाजस्स ॥३॥

अर्थ—जो तीन काल में अर्थात सदा इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छास इन चारों प्राणों को धारण करता है वह व्यवहार नय से जीव है और निश्चय नय से जिसके चेतना है वह ही जीव है॥

भावार्थ—विना किसी दूसरी वस्तु की मिलावट वा अपेक्षा के वस्तु के असली स्वभाव को वर्णन करना निश्चय नय कहाती है और किसी दूसरी वस्तु से मिलकर जो वस्तु का रूप हो जाता है उस रूप को वर्णन करना वा किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा से कथन करना व्यवहार नय है। जीवात्मा अपने निज स्वभाव से शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तीन लोक की सर्व वस्तु को जानने वाला है जानने के वास्ते उसको आंख, नाक आदिक इन्द्रियों की ज़रूरत नहीं है वह अपनी ही निज शक्ति से सर्व वस्तु को देखता जानता है परन्तु रागद्वेष आदिक भावों के कारण संसारी जीव कर्मों के वश होकर देह के क़ैदखाने में क़ैद हो रहे हैं और उनकी ज्ञान शक्ति कम होकर उनको वस्तुओं को जानने के वास्ते आंख, नाक आदिक इन्द्रियों की ज़रूरत होती है जैसे कि बूढ़े कमज़ोर को चलने के वास्ते लाठी की वा देखने के वास्ते एनक लगाने की ज़रूरत हो जाती है।

संसारी जीव के देह अवश्य होती है इसही से उसके चार बातें अवश्य होती हैं (१) किसी इन्द्री का होना (२) किसी प्रकार का शारीरिक बल का होना (३) आयु अर्थात् एक शरीर में रहने का नियमित समय (४) सांस का लेना-इनही चारों बातों से संसारी जीव जाने जाते हैं यह जीव के प्राण हैं।

इन्द्रिय पांच प्रकार की हैं-(१) त्वचा अर्थात् जो वस्तु को छू कर ठंडा, गरम, चिकना, रूखा, मुलायम, और कठोर (कडा) भारी और हलका जानै (२) जिह्वा-अर्थात् जो चख कर चरपरा, कडुआ, कषायला, खटा और मीठा पहचानै (३) नासिका-अर्थात जो नाक से सूंघ कर सुगन्ध और दुर्गन्ध मालूम करै (४) चक्षु-अर्थात् जो देख कर सुफेद, नीला, पीला, लाल और काला रंग मालूम करे (५) कर्ण-अर्थात जो अनेक प्रकार के शब्दों को सुनै इस प्रकार पांच इन्द्रिय हैं-छटा मन है वह भी एक प्रकार से इन्द्री कहलाता है।

बल तीन प्रकार का है मनबल, बचनबल और कायबल।

एकेन्द्रिय जीव में चार प्राण हैं-स्पर्शनइन्द्रिय, आयु, कायबल और श्वांसोच्छ्वास।

दो इन्द्रिय में रसना इन्द्रिय और वचन बल मिल कर छः प्राण हैं।

ते इन्द्रियें में नासिका इन्द्रिय बढ़ कर सात प्राण हैं।

चौ इन्द्रिय में चक्षु इन्द्रिय बढ़ कर आठ प्राण हो जाते हैं।

पंचेंद्रिय दो प्रकार है मन वाले (संज्ञी) और विना मन वाले (असंज्ञी) विना मन वाले पंचेंद्रिय में कान इन्द्रिय बढ़ कर ९ प्राण होते हैं और मन वाले पंचेंद्रिय में मन सहित दस प्राण हो जाते हैं।

संसार में जीवों का जन्म तीन प्रकार से होता है गर्भ, सम्मूर्च्छन और उपपाद स्त्री के उदर में माता के रुधिर और पिता के वीर्य के संयोग से पैदा होना गर्भ जन्म है-विना गर्भ के अनेक वस्तुओं के मिलने से शरीर बन जाना सम्मूर्च्छन जन्म है जैसे खाट में खटमल और सिर में जूं मैल से पैदा हो जाता हैं। देव और नारिकियों का जन्म उपपाद है उनका वैक्रियक शरीर होता है वह माता पिता के रज वीर्य के विना देव नारकियों के खास स्थानों में जन्म समय तुरंत ही बन जाता है।

सारांश यह है कि जीव किसी ही प्रकार पैदा हों परन्तु प्राणों के धारी सब होते हैं।

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खु ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥४॥

अर्थ--उपयोग दो प्रकार का है १ दर्शन और २ ज्ञान। दर्शन चार प्रकार है चक्षु, अचक्षु, अवधि, और केवल।

भावार्थ--जानने का नाम उपयोग है। इन्द्रियों के द्वारा जब हम किसी वस्तु को जानते हैं तब प्रथम हम को यह मालूम होता है कि कोई वस्तु है परन्तु यह मालूम नहीं होता कि क्या वस्तु है? जैसे सुफ़ेद झंडी को देख कर यह मालूम होता है कि कोई सुफ़ेद वस्तु है परन्तु यह मालूम नहीं होता है कि क्या वस्तु है? इसको अवग्रह मति ज्ञान कहते हैं अवग्रह से भी पहले जो ज्ञान होता है उसको दर्शन कहते हैं। जैसे सुफ़ैद झंडी को देख कर प्रथम यह मालूम हुवा कि कोई सुफ़ेद वस्तु है परन्तु यह मालूम नहीं हुवा कि क्या वस्तु है अवग्रह है परन्तु कोई सुफ़ेद वस्तु है इतना जानने से भी पहले क्षण में इतना मालूम हुवा कि वस्तु है। इस बात का कुछ भी बोध नहीं हुवा था कि सुफ़ैद है वा काली है वा किस आकार की है और क्या है? इसही को दर्शन कहते हैं। वस्तु की सत्ता मात्र के ज्ञान का नाम दर्शन है। जब तक इतना ही ज्ञान होता है कि कुछ है उसके रूप, रस, गंध और वर्ण का कुछ बोध नहीं होता है अर्थात जब तक किसी वस्तु की कल्पना नहीं होती है कि क्या है तभी तक दर्शन कहलाता है और जब वस्तु का बोध होने लगता है कि क्या है तब ही वह ज्ञान कहलाने लगता है इसही हेतु निर्विकल्प सत्ता मात्र के ज्ञान को दर्शन और सविकल्प को ज्ञान कहते हैं।

इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है उसका प्रथम दर्शन अवश्य होता है परन्तु श्री केवली भगवान को तीन लोक और तीन लोक से बाहर अलोक की सर्व वस्तु और सर्व वस्तुओं की भूत, भविष्यत और वर्त्तमान अवस्था का ज्ञान पूर्ण रूप से होता है उनके ज्ञान से कोई वस्तु बची नहीं रहती है इस हेतु उनके ज्ञान में दर्शन और ज्ञान का भेद हो ही नहीं सक्ता है अर्थात उनका ज्ञान ऐसा नहीं होता है जैसा हम किसी वस्तु को जानने के वास्ते प्रथम क्षण में यह जानते हैं कि कुछ है और दूसरे क्षण में कुछ विशेष है और दूसरे क्षण में कुछ विशेष जानते जानते क्रम क्रम से वस्तु का बोध करते हैं श्रीकेवली भगवान तो सर्व वस्तुओं की बीती हुई और आगामी होने वाली दशाओं को भी और वर्त्तमान और दशा को भी एक ही काल में जानते हैं इस हेतु उनका ज्ञान तो क्रम रूप हो ही नहीं सक्ता है और उन में दर्शन का होना बनता ही नहीं है परन्तु दर्शन को ढकने वाला दर्शणावरणी और ज्ञान को ढकने वाला ज्ञानावरणी यह दो कर्म अलग २ हैं और इन दोनों कर्मों के नाश होने से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है इस हेतु श्री सर्वज्ञ देव के ज्ञान के भी दो भेद अर्थात केवल दर्शन और केवल ज्ञान किये गये हैं।

दर्शन चार प्रकार है (१) चक्षु दर्शन अर्थात आंख से देखना (२) अचक्षु दर्शन अर्थात आंख के सिवाय अन्य इन्द्रियों से किसी वस्तु की सत्ता मात्र का अवलोकन करना (३) अवधि दर्शन अर्थात अवधि द्वारा रूपी पदार्थों की सत्ता मात्र का एक देश प्रत्यक्ष अवलोकन करना (४) केवल दर्शन अर्थात केवल द्वारा रूपी अरूपी समस्त पदार्थों की सत्ता सामान्य का प्रत्यक्ष अवलोकन करना।

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदि ओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जय केवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥५॥

अर्थ--ज्ञान आठ प्रकार है कुमति, कुश्रुति, कुअवधि, मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्यय और केवल-इन में कुअवधि, अवधि, मनः पर्यय और केवल यह चार ज्ञान प्रत्यक्ष हैं और कुमति, मति, कुश्रुति, और श्रुति यह चार ज्ञान परोक्ष हैं।

भावार्थ—ज्ञान के पांच भेद हैं-मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्यय और केवल परन्तु मति, श्रुति और अवधि यह तीन ज्ञान मिथ्या दृष्टि और सम्यक् दृष्टि दोनों के हो सक्ते हैं और मनः पर्यय और केवल यह दो ज्ञान सम्यक् दृष्टि के ही होते हैं। मिथ्या दृष्टि का ज्ञान कुज्ञान अर्थात खोटा ज्ञान कहलाता है इस से मति, श्रुति और अवधि यह तीन ज्ञान जब मिथ्या दृष्टि के होते हैं तो कुमति, कुश्रुति और कुअवधि कहलाते हैं-इस रीति से पांच ज्ञान में यह तीन कुज्ञान मिल कर ज्ञान के आठ भेद हो गये।

इन्द्रियों तथा मन से जो कुछ जाना जाता है उसको मति ज्ञान कहते हैं और मति ज्ञान से वस्तु को जान कर उसही जानी हुई बात के सम्बंध से अन्य बात को जानना श्रुति ज्ञान है-जैसे शीतल पवन का स्पर्श हमारे शरीर से हुवा तब त्वचा इन्द्रिय द्वारा हमने पवन के शीतलपने को जाना यह तो मति ज्ञान है परन्तु यह जानना कि यह शीतल पवन लाभ दायक है वा हानि कारक है यह श्रुतिज्ञान है-इसही प्रकार किसी ने हमको हमारा नाम लेकर आवाज़ दी कि सूरजभान यह शब्द हमारे कान से स्पर्श करके हमको सूरजभान शब्द का ज्ञान हुवा कि कोई सूरजभान कहता है परन्तु यह जानना कि सूरजभान हमारा नाम है। इस कारण वह हमको आवाज़ देता है यह श्रुति ज्ञान है।

मति और श्रुतिज्ञान प्रत्येक जीव को होता है कोई जीव इन दोनों प्रकार के ज्ञान से बचा हुआ नहीं है। हां इतना अवश्य है कि किसी जीव में यह ज्ञान अधिक

होते हैं और किसी में कमती यहां तक कि लब्धि अपर्याप्तक निगोदिया जीव को एक अक्षर का अनन्तवां भाग अर्थात नाम मात्र ही श्रुतिज्ञान होता है।

इन्द्रियों के सहारे के बिदून आत्मीक शक्ति से रूपी पदार्थ अर्थात पुद्गल पदार्थ के जानने को अवधि ज्ञान कहते हैं। देव, नार की और श्री तीर्थंकर भगवान को यह ज्ञान जन्म दिन से ही होता है इस कारण इन तीनों के अवधि ज्ञान को भव प्रत्यय अवधि ज्ञान कहते हैं। मन इन्द्रिय वाले पंचेंद्रिय जीव को जिसकी इन्द्रियां पूर्ण किसी गुण के कारण अर्थात् किसी प्रकार के तप से यदि अवधि ज्ञान प्राप्त हो तो उसको गुण प्रत्यय अवधि ज्ञान कहते हैं।

किसी मनुष्य ने जो कुछ अपने मन में चिन्तवन किया था वा चिन्तवन कर रहा है वा आगामी को चिन्तवन करैगा उसको जानना मनःपर्य्यय ज्ञान है। छठे गुण स्थान से बारहवें गुण स्थान तक वाले मुनि को यह मनः पर्य्यय ज्ञान हो सक्ता है। गुण स्थान का वर्णन आगे किया जावेगा।

लोक अलोक की भूत, भविष्यत और वर्तमान सर्व वस्तुओं को और सर्व वस्तुओं के सर्व गुण पर्य्याय को जानना केवल ज्ञान है। केवल ज्ञान में कोई वस्तु जानना बाक़ी नहीं रहती है।

अवधि, मनःपर्य्यय और केवल यह तीन ज्ञान इन्द्रियों के सहारे के बिदून आत्मीक शक्ति से साक्षात रूप होते हैं इस हेतु इनको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं परन्तु मति और श्रुति यह दो ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होते हैं इस कारण परोक्ष कहलाते हैं। मति ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं॥

अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणंभणियं।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥६॥

अर्थ-आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का जो धारक है वह जीव है यह व्यवहार नय से सामान्य जीव का लक्षण वर्णन किया गया है और शुद्धनय से शुद्ध ज्ञान, दर्शन ही जीव का लक्षण है।

भावार्थ—जीव का असली स्वभाव सर्व वस्तु का जानना अर्थात केवल ज्ञान है। जिस में ज्ञान और दर्शन दोनों गर्भित हैं। परन्तु संसारी जीवों के ज्ञान पर कर्मों का पटल पड़ा हुवा है। जितना २ वह पटल दूर होता है उतना उतनाही ज्ञान प्रगट होता है इस ही कारण ज्ञान में कमती बढ़ती होने से ज्ञान और दर्शन के अनेक भेद हो गये हैं।

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठणिच्छयाजीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति वंधा दो ॥७॥

अर्थ-निश्चय से जीव में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श यह २० गुण नहीं हैं इसलिये जीव अमूर्तीक ही हैं परन्तु वंध के कारण व्यवहार नय से जीव मूर्तीक हैं।

भावार्थ-वह ही पदार्थ मूर्तीक कहाता है जिसमें वर्ण, रस, गंध और स्पर्श हो। वर्ण पांच प्रकार का है। सुफैद, नीला, पीला, लाल और काला। रस भी पांच प्रकार का है। चरपरा, कड़वा, कषायला, खट्टा और मीठा। गंध दो प्रकार का है सुगंध और दुर्गंध। स्पर्श आठ प्रकार का है। ठंडा, गरम, चिकना, रूखा, मुलायम, कठोर, भारी और हलका।

जिस वस्तु में उपरोक्त वात न हो वह अमूर्तीक है रूप, रस, गंध और स्पर्श पुद्गल पदार्थ में ही होते हैं इस हेतु पुद्गल द्रव्य ही मूर्तीक है पुद्गल के सिवाय और कोई वस्तु मूर्तीक नहीं है। और जीव भी मूर्तीक नहीं है अर्थात अमूर्तीक है।

परन्तु संसारी जीव कर्म वंधन में वंधा हुआ है। कर्म पुद्गल है अर्थात मूर्तीक है। कर्म जीव के साथ सम्मिलित हो रहे हैं इस हेतु संसारी जीव को मूर्तीक भी कह सक्ते हैं। जैसा कि जल शीतल है परन्तु अग्नि पर तपाने से अग्नि के परमाणु जल में सम्मिलित हो जाते हैं और गरम होकर जल भी अग्नि की भांति गरम कहलाने लगता है।

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदोदु णिच्छयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणम् ॥ ८ ॥

अर्थ—व्यवहार नय से आत्मा पुद्गलकर्म आदि का कर्त्ता है निश्चय नय से चेतनकर्म का करने वाला है और शुद्ध नय से शुद्ध भावों का करने वाला है।

भावार्थ—राग द्वेष आदिक भाव आत्मा का निज भाव नहीं है इस कारण यदि आत्मा का शुद्ध स्वभाव वर्णन किया जावै तो वह राग, द्वेष, अर्थात मान, माया, लोभ और क्रोध आदिक किसी भी भाव का करने वाला नहीं है वरण केवल ज्ञान और केवल दर्शन से सर्व वस्तुओं को विना राग द्वेष के देखने जानने वाला है यह ही आत्मा का शुद्ध भाव है-यह शुद्ध निश्चय नय का कथन कहलाता है।

परन्तु कर्म वश होकर जीव में मान, माया, लोभ और क्रोध आदिक कषाय उत्पन्न होती हैं-यह कषाय चैतन्य में ही उत्पन्न हो सक्ती हैं जड पदार्थ में क्रोध आदिक कोई भी कषाय उत्पन्न नहीं हो सक्ता है-इस कारण यह जीव मान, माया, लोभ और क्रोध आदिक चैतन्य कर्मों का करने वाला है परन्तु यह कषाय उस का निज भाव नहीं है-कर्मों के उदय से जीव में विकार उत्पन्न हो कर ही यह कषाय उत्पन्न होता है इस हेतु अशुद्ध निश्चय नय से ही जीव इन कषाय भावों का करने वाला कहा जाता है।

क्रोध, मान, माया, और लोभ आदिक कषायों के करने से पुद्गल कर्म उत्पन्न होते हैं और आत्मा के साथ उनका बन्ध होता है कर्मों के उदय से ही शरीर उत्पन्न होता है और जीव देहधारी होता है देह से अनेक प्रकार की क्रिया उठना, बैठना, चलना, हिलना, तोडना, फोडना, जोडना, मिलाना आदिक करता है और महल, मकान, कपडा, लत्ता, वर्त्तन आदिक बनता है इस कारण इन सब का करने-वाला भी जीवात्मा ही है-परन्तु यह सब क्रिया शरीर और पुद्गल कर्म के द्वारा होती है इस हेतु जीवात्मा को इन क्रियाओं को करने वाला व्यवहार नय से ही कह सक्ते हैं निश्चयनय से नहीं कह सक्ते।

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि।
आदाणिच्चयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥९॥

अर्थ-आत्मा व्यवहार नय से सुख दुःख रूप पुद्गल कर्मों के फल को भोगने वाला है और निश्चय नय से अपने चेतन स्वभाव को ही भोगने वाला है।

भावार्थ—आत्मा का असली स्वभाव राग द्वेष आदि भावों से भिन्न है अपनी शुद्ध अवस्था में तो जीवात्मा रागद्वेष रहित होकर केवल ज्ञान और केवल दर्शन का ही परम आनन्द भोगता है अर्थात् ज्ञानानन्द ही जीवात्मा का भोग है। यह कथन निश्चय नय से है। परन्तु कर्मों के वश होकर संसारी जीव अपने निज स्वभाव में नहीं है उस में विकार उत्पन्न हो रहा है और राग और द्वेष पैदा हो गया है इस हेतु सुख दुःख को अनुभव करता है। यह सुख दुःख का अनुभव जीव में ही हो सक्ता है शरीर जो पुद्गल है और अचेतन है उसको सुख वा दुःख का अनुभव नहीं हो सक्ता है क्योंकि किसी भी अचेतन पदार्थ को सुख दुःख का अनुभव नहीं हो सक्ता सुख, दुःख का

अनुभव करने वाला तो चेतन जीवात्मा ही है अर्थात कर्मों के फल को भोगने वाला जीवात्मा ही है परन्तु यह जीव का निज स्वभाव नहीं है इस हेतु जीव को सुख दुःख का भोगने वाला व्यवहार नय से ही कहा जाता है।

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसोवा॥१०॥

अर्थ—व्यवहार नय से यह जीव समुद्घात अवस्था के सिवाय अन्य अवस्था में संकोच तथा विस्तार से अपने छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चय नय से यह जीव असंख्यात प्रदेशों का धारक है।

भावार्थ—पुद्गल पदार्थ के सब से छोटे से छोटे विभाग को परमाणु कहते हैं—जितने स्थान को एक परमाणु रोके उसको प्रदेश कहते हैं तीन लोक के असंख्यात प्रदेश हैं तीन लोक में फैल जाने की जीव में शक्ति है इस हेतु जीव के असंख्यात प्रदेश हैं—यह कथन निश्चयनय से है परन्तु कर्मों के वश संसारी जीव देह धारी होता है—हाथी की देह बहुत बड़ी है और कीड़ी की बहुत छोटी इसही प्रकार अनेक जीवों की देह भिन्न २ प्रकार की है—कर्मों के वश संसारी जीव ८४ लाख योनियों में भ्रमण करता है कभी मनुष्य बनता है और कभी वृक्ष कभी हाथी बनता है और कभी घोड़ा अर्थात् कभी इस को छोटा शरीर मिलता है और कभी बड़ा कभी किसी आकार का और कभी दूसरे प्रकार का—जीव में संकोच विस्तार की अर्थात् सुकड़ने और फैलने की शक्ति है इस कारण जितना छोटा या बड़ा शरीर मिलता है यह जीव उतनाही बन जाता है यह कथन व्यवहार नय से है मनुष्य शरीर से ही मुक्ति होती है—मुक्ति के समय जिस आकार का शरीर होता है वह ही आकार अर्थात् उतनीही लम्बाई चौड़ाई मुक्ति जीव के प्रदेशों की सिद्ध अवस्था में रहती है क्योंकि यद्यपि जीव की शक्ति तीन लोक में फैल जाने की है परन्तु मुक्त होने पर अपने आकार को बढ़ाने अर्थात् फैलने या कोई विशेष आकार बनाने का कोई कारण नहीं है इस हेतु मुक्ति होते समय शरीर छोड़ने पर जो आकार शरीर का था उसही के समान जीव का आकार बना रहता है—

संसारी जीव का आकार सदा देह के अनुसार होता है अर्थात् जैसी देह मिलती है उसही में जीव व्यापक रहता है न तो देह से बाहर होता है और न देह का कोई अंग जीव से खाली रहता है परन्तु समुद्घात के समय जीव देह के अन्दर भी रहता है और देह से बाहर भी फैल जाता है—समुद्घात सात प्रकार का होता है-(१) वेदना (२) कषाय (३) विक्रिया (४) मारणान्तिक (५) तैजस (६) आहारक (७) केवली—

समुद्घात

तीव्र वेदना अर्थात अधिक दुःख की अवस्था में मूल शरीर को त्यागन कर जीव के प्रदेशों का शरीर से बाहर फैलना वेदना समुद्घात है—

क्रोधादिक तीव्र कषाय के उदय से धारण किये हुए शरीर को न छोड़कर जीव के प्रदेशों का शरीर से बाहर फैलना कषाय समुद्घात है—

जिस शरीर को जीवने धारण कर रखा है उस का त्यागन करके जीव के कुछ प्रदेशों का किसी प्रकार की विक्रिया करने के अर्थ शरीर से बाहर फैल जाना विक्रिया समुद्घात है—

मरण समय जीव तुरंत ही शरीर को नहीं त्यागता है वरण शरीर में रहते हुवे शरीर से बाहर उस स्थान तक फैलता है जहां इस को जन्म लेना है-इसको मरणान्तिक समुद्घात कहते हैं —.

तैजस समुद्घात दो प्रकार का है एक शुभ और दूसरा अशुभ, जगत को रोग वा दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित देखकर महा मुनि को कृपा उत्पन्न होने से जगत की पीड़ा का कारण दूर करने के अर्थ उनकी आत्मा शरीर में रहती हुई उनके दक्षिण कंध से निकले हुए पुरुषाकार तैजस शरीर के साथ शरीर से बाहर भी फैलती है और जगत की पीड़ा का कारण दूर करके फिर संकोच कर शरीर के बराबर ही रह जाती है-इसको शुभ तैजस कहते हैं-महा मुनि को किसी कारण से क्रोध उत्पन्न होने पर जिस वस्तु पर क्रोध हुवा है उसको नष्टकरने के अर्थ उनका जीव शरीर में रहते हुवे उनके वाम स्कंध से निकले हुए सिंदूर कीकांति को लिये पुरुषाकार तैजस शरीर के साथ शरीर से बाहर भी फैलता है और जिस वस्तु पर क्रोध था उसको नष्ट कर महा मुनि के शरीर को भी भस्म कर देता है और वह तैजस शरीर का पुतला आप भी भस्म हो जाता है यह अशुभ तैजस समुद्घात है—

परम ऋद्धि के धारी महा मुनि को जब किसी विषय में कोई शंका उत्पन्न हो तब उनका जीव शरीर में रहते हुवे उनके मस्तक से निकले हुए स्फटिक वर्णा एक हाथ प्रमाण पुरुषाकार आहारक शरीर के साथ, शरीर से बाहर भी फैले और जहां कहीं श्री केवली भगवान हों वहां तक पहुंच कर अपनी शंका निवारण करके फिर शरीर में प्रवेश कर जावे इसको आहारक समुद्घात कहते हैं—

केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर जीवात्मा जो दंड, कपाट और प्रतर नामक क्रिया द्वारा फैलती है उसको केवल समुद्घात कहते हैं—

इन सात समुद्घातों के सिवाय अन्य किसी प्रकार भी जीवात्मा शरीर से बाहर नहीं फैलता है-

पुढविजलतेयवाओ वणप्फदी विविहथावरे इंदी ।
विगतिगचदुपचंक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥११॥

अर्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति इन भेदों से नाना प्रकार के स्थावर जीव हैं यह सब एकेंद्रिय हैं अर्थात् एक स्पर्शन इंद्रिय के ही धारक हैं तथा दो, तीन, चार और पांच इन्द्रियों के धारक त्रस जीव होते हैं जैसे शंख आदिक

भावार्थ—संसारी जीव दो प्रकार के हैं एक स्थावर जो अपनी इच्छा से चल फिर नहीं सक्ते हैं और दूसरे त्रस जो चल फिर सक्ते हैं-इन्द्रिय पांच हैं-स्पर्शन

(त्वचा) रसन (ज़बान) घ्राण (नाक) चक्षु, (आंख) कर्ण (कान)—स्थावर जीवों में एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है और कोई इन्द्रिय नहीं होती-स्थावर जीव पांच प्रकार के हैं-(१) पृथिवीकाय-अर्थात पृथिवी ही जिनकी काया है (२) जलकाय अर्थात् जलही जिनकी काया है (३) तेजकाय-अर्थात् अग्नि ही जिनकी काया है (४) वायुकाय-अर्थात् वायु ही जिनकी काया है-यह चारों प्रकार के जीव बहुत सूक्ष्म होते हैं और पृथिवी-जल-तेज और वायु के रूप में रहते हैं-(५) वनस्पति अर्थात् वृक्ष-बड़े भी होते हैं और अति सूक्ष्म भी होते हैं-निगोदिया जीव जो अति सूक्ष्म होते हैं वह भी बनस्पति काय ही हैं, दो इन्द्रिय जीवों में स्पर्शन और रसन अर्थात त्वचा और जिह्वा यह दो इन्द्रिय होती हैं-शंख कृमि आदिक जीव दो इन्द्रिय हैं- तेइन्द्रिय जीवों में स्पर्शन- रसन और घ्राण यह तीन इन्द्रिय होती हैं-कीड़ी, जूं और खटमल आदिक जीव तेइन्द्रिय हैं-चौइन्द्रिय जीवों में स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु अर्थात् नेत्र यह चार इन्द्रिय होती हैं-डांस, मच्छर, मक्खी, और भौंरा आदिक जीव चौइन्द्रिय हैं-पंचेन्द्रिय जीवों में स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण यह पांचों इन्द्रिय होती हैं घोड़ा, बैल और मनुष्य आदिक पंचेन्द्रिय हैं—

समणा अमणा णेया पंचिंदिया णिम्मणापरेसव्वे
बादरसुहमेइंदी सव्वेपज्जत्तइदराय ॥ १२ ॥

अर्थ—पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो प्रकार के हैं,दो इन्द्रीय तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय यह सब असंज्ञी (मनरहित) हैं-एकेन्द्रिय बादर और सूक्ष्म दो प्रकार के हैं और यह सातों प्रकार के जीव पर्याप्त तथा अपर्याप्त हैं।

भावार्थ—एक, दो, तीन, चार इन्द्रिय वाले जीवों के मन नहीं होता है, मन पंचेंद्रिय जीव के ही हो सक्ता है, पंचेंद्रिय भी कोई मन वाले हैं और कोई बिना मन वाले हैं मन वाले संज्ञी और बिना मन वाले असंज्ञी कहलाते हैं, एकेन्द्रिय अर्थात् स्थावर जीव दो प्रकार के होते हैं एक बादर अर्थात् स्थूल जो दृष्टि आसकें और दूसरे सूक्ष्म इस प्रकार जीवों के सात भेद हुवे (१) बादर एकेन्द्रिय (२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय (३) दोइन्द्रिय (४) तेइन्द्रिय (५) चौ इन्द्रिय (६) संज्ञीपंचेंद्रिय (७) असंज्ञी पंचेंद्रिय।

शरीर के अवयवों के बन जाने को पर्याप्त कहते हैं, पर्याप्ती छै हैं-आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोछास, भाषा और मन इन में से जिस जीव के जितने बनने योग्य होते हैं उनके बन कर पूर्ण हो जाने पर वह जीव प्रर्याप्त कहलाता है और इनके बनने से पहले अपर्याप्त कहलाता है॥ गोमटसार आदिक महान ग्रन्थों में पर्याप्त और अपर्याप्त

दोनों अवस्थाओं की वाबत भिन्न २ वर्णन विस्तार के साथ किया है और उपर्युक्त सात प्रकार के जीवों के दो दो भेद पर्याप्त और अपर्याप्त करके १४ प्रकार के जीव वर्णन किये गये हैं जिसको जीव समास कहते हैं

एकेंद्रीय में भाषा और मन के सिवाय चार पर्याप्ती होती हैं

दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में भाषा मिलकर पांच पर्याप्ती होती हैं और संज्ञी में मन मिलकर छहों पर्याप्ती हैं

मग्गण गुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणाया
विण्णेया संसारी सव्वेसुद्धा हु सुद्ध णया ॥ १३ ॥

अर्थ—संसारी जीव अशुद्धनय से मार्गणास्थान और गुण स्थानों से चौदह २ प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से शुद्धही हैं।

भावार्थ—यदि जीव का निज स्वभाव देखा जावे तो वह शुद्ध है और ज्ञान स्वरूप है इस के सिवाय और कोई भेद उस में नहीं है यह शुद्धनय का कथन है परन्तु अशुद्धनय से संसारी जीव के अनेक रूप और अनेक दशा होती है

जीव की संसार सम्बन्धी अवस्था की अपेक्षा महान ग्रन्थों में १४ बातों का कथन किया है जिसको मार्गणा स्थान कहते हैं और जीव के गुणों की अपेक्षा भी उस के १४ दर्जे किये हैं जिसको गुण स्थान कहते हैं

१४ मार्गणा

१४ मार्गणा इस प्रकार हैं-गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यकत्व, संज्ञा, और आहार—अब इनका संक्षेप से अलग २ वर्णन करते हैं।

१—गति-एक पर्याय से दूसरे पर्याय में जाने का नाम गति है संसारी जीव की सर्व पर्यायों के मोटे रूप चार विभाग किये गये हैं नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, यह ही चार गति कहलाती हैं।

नरक में रहने वाले नारकी हैं, स्वर्ग में रहने वाले देव हैं, नारकी, देव और मनुष्य के सिवाय जितने संसारी जीव हैं वह सब तिर्यंच कहलाते हैं।

२—इन्द्रिय-स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रिय हैं एकेंद्रिय, द्वीद्रिंय, चतुरिन्द्रिय और पंचेंद्रिय के भेद से इंद्रिय मार्गणा पांच प्रकार हैं।

३—काय-पृथिवी काय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पति काय और त्रसकाय इस प्रकार छै प्रकार की काय हैं-एकेंद्री के सिवाय सब जीव त्रस काय हैं वनस्पति काय के जीव दो प्रकार के हैं एक प्रत्येक अर्थात एक वृक्ष में एकही जीव, दूसरे साधारण अर्थात् एक वनस्पति में अनन्त जीव, यह अनन्त जीव एक साथ ही पैदा होते हैं और एक साथ ही मरते हैं और सब एक साथ ही सांस लेते हैं, जितनी देर में हम एक सांस लेते हैं उतनी देर में इन जीवों का १८ बार जन्म मरण हो जाता है यह जीव निगोदिया कहाते हैं।

४—योग-शरीर के सम्बन्ध से आत्मा का हिलना योग कहलाता है संसारी जीव के सर्व शरीर में जीवात्मा व्याप रहा है इस हेतु शरीर के हिलने से आत्मा में भी हलन चलन होता है वह तीन प्रकार है १ मन में किसी प्रकार का विचार करने से २ वचन बोलने से ३ काया को किसी प्रकार हिलाने से इस कारण योग तीन प्रकार हैं-मन, वचन और काय। विस्तार रूप से योग मार्गणा के पंद्रह भेद हैं।

५—वेद-जिसके उदय से मैथुन करने की इच्छा होती है उस को वेद कहते हैं उसके ३ भेद हैं पुरुष, स्त्री और नपुंसक॥ नारकी और सम्मूर्छन जन्मवाले जीव सब नपुंसक ही होते हैं-देव नपुंसक नहीं होते बाकी जीव तीनों प्रकार के होते हैं।

६ कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ यह चार कषाय हैं और १ हास्य अर्थात् हंसी २ रति अर्थात् प्यार प्रसन्नता ३ अरति अर्थात् अप्रसन्नता, नाराजी ४ शोक अर्थात् रंज ५ भय अर्थात् डर ६ जुगुप्सा अर्थात् ग्लानि नफ़रत ७ पुरुषवेद अर्थात् स्त्री से भोग की इच्छा ८ स्त्रीवेद अर्थात् पुरुष से भोग की इच्छा ९, नपुंसक वेद अर्थात् पुरुष और स्त्री दोनों से भोग की इच्छा इस प्रकार यह ९ कषाय हैं-नो का अर्थ है न्यून अर्थात् कमती मान, माया, लोभ और क्रोध से यह कषाय कमती हैं इस कारण इनको नोकषाय कहा है-

मान, माया, लोभ और क्रोध इन चार कषायों के चार २ भेद किये गये हैं १ अनन्तानुबन्धी जो सम्यक्त न होने दे (२) अप्रत्याख्यानी जो देश चारित्र अर्थात् गृहस्थी श्रावक का धर्म भी न पालने दे (३) प्रत्याख्यानी जो देश चारित्र तो होने दे परन्तु मुनि धर्म अर्थात सकल चारित्र न होने दे (४) संज्वलन जो सकल चारित्र तो होने दे परन्तु यथाख्यात चारित्र न होने दे इस प्रकार चार कषाय के १६ भेद और ९ नोकषाय मिलकर २५ प्रकार की कषाय मार्गणा है।

७—ज्ञान आठ प्रकार है जिसका वर्णन गाथा पांचवीं में हो चुका है

८—संयम--सम्यक् प्रकार यम नियम पालने को संयम कहते हैं-अहिंसा

आदिकव्रत का पालना, क्रोधादिक कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति का रोकना और इन्द्रियों का वस में करना संयम है, संयम पांच प्रकार का है १ सामायिक २ छेदोपस्थापन ३ परिहार विशुद्धि ४ सूक्ष्मसांपराय और ५ यथाख्यात, संयमासंयम और असंयम यह दो और मिलकर संयममार्गणा के सात भेद हैं। राग द्वेष के त्याग रूप समता भाव के अवलम्बन से आत्मध्यान करने को **सामायिक** कहते हैं—सामायिक चारित्र को धारण करने के पश्चात् किसी प्रमाद के कारण संकल्प विकल्प आदिक विकार उत्पन्न होने से किसी प्रकार के प्रायाश्चित आदि से फिर संभलना और अनर्थक सावद्य (पापरूप) व्यापार से उत्पन्न हुए दोष का छेद कर फिर से अपने को अपनी आत्मा में स्थिर करना **छेदोपस्थापना** है, सामायिक में जो सावद्य योग्य तथा सङ्कल्प विकल्प का त्याग है उससे भी अधिक त्याग कर आत्मीक शुद्धि करना **परिहार विशुद्धि** है॥ आत्मा की शुद्धता में इससे भी अधिक उन्नति करना जिसमें कषाय नाम मात्र को बहुत सूक्ष्म रह जावे वह **सूक्ष्म सांपराय** चारित्र है॥ आत्मा का जैसा शुद्ध निष्कंप कषाय रहित स्वरूप कहा गया है वैसा हो जाना **यथाख्यात** चारित्र है॥ संयम का बिल्कुल न होना **असंयम** है और कुछ संयम और कुछ असंयम इस प्रकार की मिश्रित अवस्था को **संयमासंयम** कहते हैं गृहस्थी श्रावक संयमासंयमी होते हैं।

९—**दर्शन** चार प्रकार है चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल इसकी व्याख्या चौथी गाथा में हो चुका है।

१०—**लेश्या**—कषाय सहित योग का होना अर्थात कषाय सहित मन, वचन वा काय की प्रवृत्ति होना लेश्या है लेश्या से कर्म बन्ध होता है-कर्म दो प्रकार के हैं पाप और पुन्य इसी प्रकार लेश्या भी दो प्रकार की है शुभ और अशुभ, शुभ लेश्या से पुन्य होता है और अशुभ से पाप, शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की लेश्या के तीन २ भाग किये गये हैं (१) उत्कृष्ट अशुभ जिसको कृष्ण लेश्या कहते हैं (२) मध्यम अशुभ जिसको नील लेश्या कहते हैं (३) जघन्य अशुभ जिसको कापोत लेश्या कहते हैं (४) जघन्य शुभ जिसको पीत लेश्या कहते हैं (५) मध्यम शुभ जिसको पद्म लेश्या कहते हैं (६) उत्कृष्ट शुभ जिसको शुक्ल लेश्या कहते हैं, इस प्रकार लेश्या मार्गणा ६ प्रकार है।

११ भव्यत्व-जीव दो प्रकार के हैं भव्य और अभव्य जो किसी काल में सम्यग्दर्शनादि भाव रूप होवेंगे अर्थात् जो मोक्ष को जाने की योग्यता रखते हैं वह, भव्य हैं और जिन को कभी मोक्ष प्राप्त नहीं होगा अर्थात् जिन में किसी काल में भी सम्यग्दर्शनादि के प्राप्त होने की योग्यता नहीं है वह अभव्य हैं

१२ सम्यक्त्व-तत्वार्थ श्रद्धान को सम्यक्त कहते हैं मोटे रूप कथन से अपने और पराये की पहचान होकर अपनी आत्मा का सच्चा श्रद्धान हो जाना सम्यक्त है; औपशमिक, क्षायोपशमिक, औरक्षायिक तथा मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीन विपक्ष भेदों सहित सम्यक्त्वमार्गणा ६ प्रकार है

१३ संज्ञी-तथा असंज्ञी भेद से संज्ञि मार्गणा दो प्रकार है

१४ आहार-तीन शरीर (कार्माण, तैजस, वैक्रियक) और ६ पर्याप्ती के योग्य पुद्गल परमाणुओं के ग्रहण करने का नाम आहार है आहारक और अनाहारक के भेद से आहार मार्गणा भी दो प्रकार है-मरने के पश्चात विग्रह गति में एक दो वा तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है केवल समुद्घात में अनाहारक होता है और सिद्ध भगवान अनाहारक हैं अन्य सर्व अवस्था में जीव आहारक ही रहता है।

१४ गुणस्थान

जीव के १४ गुणस्थान इस प्रकार हैं-मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्व करण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगि केवलीजिन और अयोगिकेवलीजिन।

१-मिथ्यात्व-सम्यक्त्व के न होने को मिथ्यात्व कहते हैं-झूंठ श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है।

२-सासादन-कोई जीव सम्यक्त प्राप्त होकर फिर भ्रष्ट हो जावे अर्थात मिथ्यात्वी हो जावे-ऐसी अवस्था में सम्यक्त से गिर कर जब तक वह जीव मिथ्यात्व को प्राप्त न हो जावे तब तक जो बीच के समय की दशा है उसको सासादन कहते हैं।

३-मिश्र-सम्यक्त और मिथ्यात्व दोनों मिलकर जो एक विलक्षण भाव उत्पन्न हो उसको मिश्र कहते हैं-

४-अविरत सम्यक्त्व-सम्यक्त उत्पन्न हो जावै परन्तु किसी प्रकार का व्रत वा चारित्र धारण न करै।

५-देश विरत-सम्यक्त सहित एकदेश चारित्र पालने का नाम देश विरत है जो सम्यक्ती किंचित त्यागी है उस को गृहस्थी श्रावक भी कहते हैं इसके ११ प्रतिमा अर्थात दर्जे हैं-जो आगे वर्णन किये जावेंगे।

६-प्रमत्त विरत—जो हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह इन पांच पापों के त्यागरूप पंच महाव्रतों को पालता है परन्तु प्रमाद उसके विद्यमान है—वह प्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती कहलता है।

७-अप्रमत्तविरत-जो प्रमाद रहित होकर पांच महाव्रतों को पालता है।

८–अपूर्व करण—सातवें गुण स्थान से भी ऊपर अपनी विशुद्धता में अपूर्व रूप उन्नति करता है

९–अनिवृत्ति करण— आठवें गुणस्थान से भी अधिक उन्नति करता है

१०–सूक्ष्म सांपराय — जहां सब कषाय उपशम या क्षय को प्राप्त हो गई है केवल एक लोभ कषाय सूक्ष्म रूप से बाक़ी रह जाती है उस गुणस्थान का नाम सूक्ष्म सांपराय है।

११—उपशान्त मोह-जिसकी कषाय किंचित मात्र भी उदय में नहीं हैं सब उपशम हो गई है अर्थात् दब गई हैं वह उपशांतमोह गुणस्थानवर्ती कहलाता है इस गुणस्थान से जीव फिर नीचे गिरता है क्योंकि कषाय जो सत्ता में विद्यमान् थी उनका उदय हो जाता है।

१२—क्षीणमोह जहां कषाय बिल्कुल क्षीण अर्थात् नाश को प्राप्त हो जाती है वह क्षीणमोह गुणस्थान है।

१३—सयोग केवली-जिसको केवल ज्ञान प्रात हो गया है परन्तु योग की प्रवृत्ति होती है वह तेरहवेंगुण स्थानवर्त्ती जीव है-इसही दशा में भगवान की वाणी खिरती है जिस से धर्म उपदेश चलता है

१४—अयोगि केवली-केवल ज्ञान होने के पश्चात् जब मन, वचन, काय रूप योग की प्रवृत्ति भी दूर हो जाती है तब जीव अयोगि केवली जिन कहलाता है। इसके अनन्तर ही सिद्ध पद की प्राप्ति होती है।

णिकम्मा अट्ठगुणा किंचूणा किंचूणाचरमदेहेदो सिद्धा
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥१४॥

अर्थ—जो जीव आठों कर्म रहित हैं, आठ गुण के धारक और अन्तिम शरीर से कुछ कम हैं वे सिद्ध हैं और उर्ध्व गमन स्वभाव से लोक के अग्र भाग में स्थित हैं-नित्य हैं तथा उत्पाद और व्यय संयुक्त हैं।

भावार्थ—कर्मों से रहित होकर यह जीव निज शुद्ध स्वभाव को प्राप्त होता है उसही को सिद्ध अवस्था कहते हैं-सिद्ध अवस्था में आठ गुण होते हैं अर्थात् सम्यकत्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरुलघु अव्यावाध।

शुद्ध सच्चा श्रद्धान प्रत्येक वस्तु का होने से उन में क्षायक सम्यकत्वगुण है जीवात्मा में अनन्त ज्ञान की शक्ति है जो सिद्धों में होती है इस ही प्रकार अनन्त

दर्शन भी होता है अनन्त ज्ञानादिक आत्मीक शक्ति को पूर्ण रूप से प्राप्त होने के कारण तथा पदार्थों के जानने में कुछ भी खेद न होने के कारण उन में अनन्तवीर्य अर्थात् अनन्त बल भी है।

जीवात्मा अति सूक्ष्म अमूर्तीक है जो केवल ज्ञान से ही पूर्णरूप जानी जा सक्ती है-इस कारण सिद्धों में सूक्ष्मत्व गुण भी है। जीवात्मा अति सूक्ष्म होने से न किसी वस्तु से रुकती है और न किसी वस्तु को रोकती है वरण एकही स्थान में अनेक जीव समा-सक्ते हैं इस हेतु सिद्धों में अवगाहन शक्ति भी है। जीवात्मा न हलकी है और न भारी है इस कारण सिद्धों में अगुरु लघु गुण है। सिद्धों को अनन्त सुख है जिस में किसी प्रकार की बाधा नहीं आ सक्ती है इस कारण सिद्धों में अव्याबाध गुण है।

जिस शरीर से मुक्ति होती है उस शरीर का जितना आकार है मोटे रूप तो उतनाही आकार सिद्ध अवस्था में होता है परन्तु तार्तम्य कथन के अनुसार उस आकार से कुछ कम आकार सिद्धों का होता है।

जीव का ऊर्ध्वगमन अर्थात् ऊपर को जाने का स्वभाव है। जैसे पानी में कोई हलकी वस्तु तूंबी आदिक डाल दी जावै तो वह अपने स्वाभाव से आपही आप ऊपर को आजावैगी वा जैसे अग्नि की लटा ऊपर को ही जावैगी परन्तु वस्तु का गमन वहीं तक हो सक्ता है जहां तक धर्म द्रव्य हो जैसा कि धर्म द्रव्य के कथन में आगामी दिखाया जावैगा धर्म द्रव्य तीन लोक केही भीतर है तीन लोक से बाहर अलोका काश में धर्म द्रव्य नहीं है इस वास्ते ऊपर को चलता हुआ मुक्त जीव उस स्थान पर ठहर जाता है जहां लोक की समाप्ति है। इसही कारण लोक के अग्रभाग में अर्थात् लोक शिखर पर सिद्धों की स्थिति है।

मुक्ति पाकर जीव कभी लौट कर संसार में नहीं आता है-सदा सिद्ध ही बना रहता है इस हेतु सिद्ध अवस्था नित्य है—

सर्व वस्तुओं में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य यह तीन अवस्था होती है-किसी पर्य्याय में स्थित होने को ध्रौव्य कहते हैं-पहली पर्य्याय के नाश को व्यय कहते हैं और नवीन पर्य्याय के उत्पन्न होने को उत्पाद कहते हैं-प्रत्येक वस्तु समय २ में पर्य्याय पलटती रहती हैं इस हेतु उन में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता रहता है-परन्तु सिद्ध तो अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप में ही निरंतर निश्चल रूप स्थित रहते हैं और अपनी ज्ञान शक्ति से तीन लोक की भूत, भविष्यत और वर्तमान वस्तुओं को देखते रहते हैं। संसारी वस्तुओं की जो इस समय अवस्था है वह अगले क्षण में बीती हुई अवस्था हो जावैगी और जो आगे को होने वाली अवस्था है वह वर्तमान अवस्था हो जावैगी इसही

प्रकार यद्यपि सिद्धों को भूत भविष्यत और वर्तमान तीनों अवस्था का ज्ञान युगपत अर्थात् एक ही साथ है. परन्तु जिस प्रकार संसारी वस्तुओं की भूत, भविष्यत और वर्तमान अवस्था है वैसी ही उनके ज्ञान में है कि अमुक अवस्था वर्तमान है और अमुक २ अवस्था बीत गई है और अमुक २ अवस्था बीतने वाली है। और जैसा कि वर्तमान अवस्था बीत कर बीती हुई हो जाती है और होने वाली अवस्था वर्तमान हो जाती है उसही के अनुसार उन के ज्ञान में परिवर्तन हो जाता है यह सिद्धों का उत्पाद और व्यय है। सिद्धों में उत्पाद और व्यय कहने का प्रयोजन यह है कि जीव परिणामी है। कोई २ मत वाले इस को अपरिणामी मानते हैं वह ठीक नहीं है।

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसादु ॥१५॥

अर्थ—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह पांच अजीव द्रव्य हैं-इन में पुद्गल मूर्तीक है रूपादि गुणों का धारक है और बाकी चार द्रव्य अमूर्तीक हैं—

भावार्थ—जिस में किसी प्रकार भी ज्ञान शक्ति नहीं है उसको अजीव कहते हैं, अजीव पांच प्रकार के हैं, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

जो वस्तु छूई जासक्ती है जो चक्खी जासक्ती है जिस में किसी प्रकार का गन्ध है जो आंखों से देखी जासक्ती है अर्थात् जो वस्तु इन्द्रिय गोचर है वह मूर्तीक कहलाती है। यह सर्वगुण पुद्गल पदार्थ में ही है इस कारण पुद्गल ही मूर्तीक है और बाकी सब द्रव्य अमूर्तीक है पुद्गल का वर्णन अगली गाथा १६ में धर्म की गाथा १७ में अधर्म की गाथा १८ में आकाश की गाथा १९–२० में काल की गाथा २१–२२ में किया गया है।

सद्दोबन्धोसुहुमोथूलो सण्ठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्सपज्जाया ॥१६॥

अर्थ—शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत, और आतप इन करके जो सहित है वे सब पुद्गलद्रव्य के पर्याय हैं।

भावार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि और वायु यह सब पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं अनेक मतवालों ने शब्द को आकाश का गुण माना है परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि

मुख में जिह्वा के हिलने से वा घण्टे में मूगरी मारने से वा अन्य किसी प्रकार से पुद्गल द्रव्य हिलने से उस वस्तु के समीप की वायु हिलती है और वह वायु अपने समीप की वायु को हिलाती है इस तरह वायु हिलते हिलते जब किसी के कान को टक्कर देती है तो उस टक्कर के अनुसार शब्द मालूम होता है।

भेद अर्थात् टुकड़े होना जैसे गेहूं को पीस कर बारीक कण बनाकर आटा बना लेते हैं बन्ध अर्थात् जुड़ना जैसे आटे के बारीक कणों को पानी में घोलकर रोटी बना लेते हैं, यह दोनों बातें अर्थात् भेद और बन्ध पुद्गलही में होते हैं पुद्गल के सिवाय किसी द्रव्य के न टुकड़े होते हैं और न जुड़ते हैं।

सूक्ष्म अर्थात् बारीक होना और स्थूल अर्थात् मोटा होना यह भी पुद्गलही में होता है। अन्य सब द्रव्य अमूर्तीक हैं और वैसेही रहते हैं।

संस्थान अर्थात् गोल, चकोर और त्रिकोण आदिक आकार का होना भी पुद्गलही में है।

तम अर्थात् अन्धेरा और छाया अर्थात् साया उद्योत अर्थात् रोशनी और आतप अर्थात् गर्मी यह सब भी पुद्गल में ही होती हैं।

गइ परिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई ॥१७॥

अर्थ—पुद्गल और जीव गमन रूप परिणमते हैं उनके गमन में धर्म द्रव्य सहकारी है जैसे मछली के चलने में जल सहकारी है। परन्तु गमन न करते हुवे पुद्गल और जीवों को वह धर्म द्रव्य कदापि गमन नहीं कराता है। अर्थात् गमन की प्रेरणा नहीं करता है।

भावार्थ—गमन अर्थात् हिलने चलने की शक्ति जीव और पुद्गल दोही द्रव्यों में है। और कोई द्रव्य हिलता चलता नहीं है। परन्तु जैसे मछली को चलने के वास्ते जल की और पतंग को उड़ने के वास्ते वायु की ज़रूरत होती है वा जैसे कोठे पर चढ़ने के वास्ते सीढ़ी की ज़रूरत होती है इसही प्रकार प्रत्येक वस्तु को हिलने चलने के वस्ते एक द्रव्य की आवश्यक्ता है जिस का नाम धर्म द्रव्य रक्खा गया है। धर्म द्रव्य से मतलब यहां पुन्य पाप वा मुक्ति मार्ग से नहीं है वरण यह तो एक अजीव द्रव्य है और अमूर्तीक है और तीन लोक में व्यापक है। तीन लोक से बाहर नहीं है। यह धर्म द्रव्य आप तो हिलता चलता नहीं है। तीन लोक में ज्योंका त्यों

व्यापक रहता है परन्तु इसके सहारे से जीव और पुद्गल हलन चलन क्रिया करते रहते हैं। तीन लोक के बाहर अलोकाकाश में धर्म द्रव्य नहीं है इसही हेतु वहां गमन नहीं हो सक्ता है। परन्तु यह धर्म द्रव्य किसी वस्तु को हिलने चलने की प्रेरणना नहीं करता है जैसे सीढ़ी मनुष्य को प्रेरणा नहीं करती है कि तुम मेरे द्वारा कोठे पर चढ़ो वरण जब कोई मनुष्य चढ़े तो उसको चढ़ने में सीढ़ी सहकारी होती है।

ठाणजुदाणअधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छायाजहपहियाणं गच्छन्ताणेवसो धरई ॥१८॥

अर्थ—जो पुद्गल और जीव स्थिति सहित हैं अर्थात् ठहरे हुए हैं उनकी स्थिति में सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है जैसे मुसाफिर को वृक्ष की छाया ठहरने में सहकारी कारण होती है परन्तु गमन करते हुए जीव पुद्गलों को वह अधर्म द्रव्य प्रेरणा करके नहीं ठहराता है।

भावार्थ—जिस प्रकार गमन के वास्ते सहकारी धर्म द्रव्य है इसही प्रकार ठहरने के वास्ते सहकारी अधर्म द्रव्य है। अधर्म द्रव्य भी अमूर्तीक है और तीन लोक में व्यापक है। लोक से बाहर अलोकाकाश में नहीं है। परन्तु जिस प्रकार धर्मद्रव्य गमन करने की प्रेरणा नहीं करता है वरण गमन करनेवाली वस्तु को गमन में सहायता देता है इसही प्रकार अधर्म द्रव्य भी ठहरने की प्रेरणा नहीं करता है वरण जो वस्तु गमन अर्थात् हलन चलन क्रिया को बन्द करके ठहरे उसको ठहरने में सहायता करता है।

जीव, पुद्गल, आकाश और काल यह चार द्रव्य बहुत से मतवालों ने माने हैं परन्तु धर्म और अधर्म यह दो द्रव्य जैनमत में ही माने गये हैं। किन्तु आज कल अंग्रेजी के महान फ़िलासोफर इस बात की शङ्का कर रहे हैं कि वस्तु की गति और स्थिति के वास्ते कोई सहकारी वस्तु अवश्य चाहिये और वह इसकी कुछ खोज भी लगा रहे हैं परन्तु अमूर्तीक वस्तुओं की उन को क्या खोज मिल सक्ती है?

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१९॥

अर्थ—जो जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने की योग्यता रखने वाला है उसको श्रीजिनेंद्रदेव आकाश कहते हैं। आकाश के दो भेद हैं लोकाकाश और अलोकाकाश।

भावार्थ—रहने को स्थान देना आकाश का काम है-आकाश सर्व व्यापक है यदि कोई पूछे कि तीन लोक के बाहर क्या है ? तो यह ही कहा जावेगा कि आकाश और वह कहां तक है ? इस की कोई सीमा नहीं बांधी जा सक्ती क्योंकि जो कुछ भी सीमा बांधी जावे उसके बाहर क्या है ? तो फिर यह ही कहना पड़ेगा कि आकाश। इस कारण आकाश अनन्त है आकाश का कोई अन्त नहीं है—आकाश भी अमूर्तीक है और सर्व व्यापक होने से प्रत्येक वस्तु के अन्दर और बाहर सब जगह आकाश है-

धम्मा धम्मा कालो पुग्गल जीवाय संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुरिति ॥२०॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव यह पांचो द्रव्य जितने आकाश में हैं वह लोकाकाश है और उस लोकाकाश से बाहर को अलोकाकाश कहते हैं।

भावार्थ—पांचो द्रव्य जितने स्थान में देखने में आते हैं उसही को लोक कहते हैं इसही लोक के ऊपर, नीचे और मध्य यह तीन विभाग करके तीन लोक कहे जाते हैं—लोक अर्थात् तीन लोक के भीतर के आकाश को लोकाकाश और उससे बाहर के अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहते हैं—

दव्वपरिवट्टरूवोजोसो कालोहवेइववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खोयपरमट्ठो ॥२१॥

अर्थ—जो द्रव्यों के परिवर्तनरूप हैं और परिणाम क्रिया आदि से जाना जाता है वह व्यवहार काल है और जो वर्त्तना लक्षण का धारक है वह निश्चय काल है।

भावार्थ—समय, घड़ी, पहर, दिन, महीना, और वर्ष आदिक को व्यवहार काल कहते हैं। यह काल की पहचान संसार की वस्तुओं के परिवर्त्तन से स्थापित की गई है। क्योंकि जितने काल में सूर्य्य उदय होकर और अस्त होकर फिर उदय होता है उसको दिन कहते हैं। उसही दिन के साठ विभाग करके घड़ी आठ विभाग करके पहर स्थापित कर लिये हैं। इसही प्रकार महीने और वर्ष स्थापित किये गये हैं। निश्चय में काल द्रव्य पदार्थों के परिणामन में कुम्हार के चाक की कीली की तरह उदासीनरूप से सहकारी कारण है। उस पदार्थ परिणति में सहकारिता को ही वर्त्तना कहते हैं। और वर्त्तना जिसका लक्षण है वही कालाणु रूप निश्चय काल है।

समय—जितने काल में मन्दगति से एक परमाणु (पुद्गल का सब से छोटा टुकड़ा) आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करता है उतने काल का नाम समय है भावार्थ काल के सब से छोटे हिस्से का नाम समय है।

काल के एक चक्कर को कल्प कहते हैं जो बीस कोड़ा कोड़ी सागर का होता है, इसके दो भेद हैं अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के छः ६ भेद हैं सुषमा सुषमा, २ सुषमा ३ सुषमा दुःषमा, ४ दुःषमा सुषमा, ५ दुःषमा और ६ दुःषमा दुःषमा। उत-सर्पिणी के भी छः ६ भेद हैं जिनका क्रम अवसर्पिणी से विपरीत (उलटा) है और वह यह हैं। १ दुःषमा दुःषमा, २ दुःषमा, ३ दुःषमा सुषमा, ४ सुषमा दुःषमा, ५ सुषमा और ६ सुषमा सुषमा।

अवसर्पिणी के छहों कालों में भरत और एरावत क्षेत्रों में निवास करने वाले जीवों के आयु, शरीर बल वैभवादि क्रम से घटते हैं और उत्सर्पिणी के छहों कालो में क्रम से बढते हैं। भावार्थ अवसर्पिणी के १ले, २रे, ३रे, ४थे, ५ वें, ६ठे काल की रचना उतसर्पिणी के ६ठे, ५वें, ४थे, ३रे, २रे, १ले काल की रचना के समान है। भेद केवल इतना ही है कि अवसर्पिणी में आयुकायादिक की हानि होती है और उतसर्पिणी में वृद्धि होती है। भरत और एरावत के सिवाय अन्य क्षेत्रों में प्रायः काल की समान रचना रहती है अर्थात् किसी क्षेत्र में सदा १ले काल की ही रचना रहती है किसी में दूसरे काल की, किसी में तीसरे की और किसी में ४थे काल की विदेह क्षेत्रों में सदा ४थे काल की ही रचना रहती है। चौथे काल में ही ६३ शलाका के पुरुष होते हैं। और चौथे काल में ही संसार से मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है।

आज कल इस भरत क्षेत्र में, जिसमें हम तुम सब लोग निवास करते हैं अव-सर्पिणी का पांचवा 'दुःषमा' नामक काल बीत रहा है जिसको 'पंचम काल' कहते हैं इसी से दिन पर दिन मनुष्यों की आयु, काय, बल, वैभव आदिक घटते जाते हैं यह पंचम काल २१ हजार वर्ष का है। चौबीसवें तीर्थंकर के मोक्ष जाने से ६०५ वर्ष और ५ महीने पीछे पंचम काल में शक राजा होता है। इसी हिसाब से आज कल २४३५ श्री वीर निर्वाण सम्वत प्रचलित है अर्थात् अभी तक २१ हजार में से अनु-मान इतने ही वर्ष पंचम काल के व्यतीत हुए हैं। शक राजा के ३९४ वर्ष ७ महीने पीछे अर्थात् अन्तिम तीर्थंकर के निर्वाण से १ हजार वर्ष पश्चात् कल्की राजा होता है। यह कल्की धर्म से विमुख आचरण में लीन रहता है। इसी प्रकार एक २ हजार वर्ष बाद एक २ कल्की राजा होता है तथा इन कल्कियों के बीच बीच में एक २ उप कल्की भी होता है। परन्तु मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकारूप चार प्रकार जिन

धर्म के संघ का सद्भाव पंचम काल के अंत तक रहता है अर्थात् पंचम काल के अन्त तक धर्म बना रहता है और उसका लोप नहीं होता है भावार्थ पंचम काल के अन्त होने पर धर्म का भी अन्त हो जाता है और कोई राजा भी नहीं रहता फिर छठे काल में मनुष्य धर्म शून्य पशुओं की तरह मांसाहारी होते हैं और मरकर नरक वा तिर्यंच गति को ही जाते हैं और ऐसी ही खोटी गतियों से आन कर जीव छठे काल में उत्पन्न होते हैं। यह छठा काल भी २१ हजार वर्ष का ही होता है। छठे काल के अन्त में अग्नि आदि की ४९ दिन तक घोर वर्षा होती है जिनसे प्रायः सब जीव मर जाते हैं। इसी को महा प्रलय कहते हैं। परन्तु यह प्रलय भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्य खंडों में ही होता है अन्यत्र नहीं होता है। जो लोग सर्व जगत का प्रलय होना मानते हैं वह ग़लत है और प्रमाण विरुद्ध है।

सुषमा सुषमा, सुषमा, और सुषमा दुःखमा, इन तीन कालों में भोग भूमि की रचना रहती है अर्थात् खेती बाड़ी करना, मकान-बनाना, भोजन तय्यार करना, कपड़े सीना तप संयम धारण करना आदि कोई काम नहीं होता है बल्कि उस समय दस प्रकार के कल्प वृक्षों द्वारा सर्व प्रकार की भोग सामिग्री प्राप्त होती रहती है। सुषमा दुःखमा काल के अंत में क्रम से १४ कुल कर होते हैं जो अधिक ज्ञान के धारी होते हैं और भोग भूमि या जीवों को अनेक प्रकार की कर्म भूमि की शिक्षा देते हैं, खेती करने भोजन बनाने वस्त्र सीने, मकान बनाने, विवाह करने और तप संयम धारण करने आदि को कर्म भूमि की रीति कहते हैं, चौदहवें कुलकर यह सब काम मनुष्यों को पूर्ण रीति से सिखा देते हैं और कर्म भूमि की रीति प्रारम्भ हो जाती है, दुःखमा सुषमा, दुखमा, और दुःखमा दुःखमा काल में कर्म भूमि की रीति ही रहती है।

लोयायासपदेसेइक्किक्के जेठियाहुइक्किका।
रयणाणं रासीइवते कालाणुअसङ्खदव्वाणि॥२२॥

अर्थ—जो लोकाकाश के एक एक प्रदेश में रत्नों की राशी के समान परस्पर भिन्न होकर एक २ स्थित हैं वे कालाणु हैं और असंख्यात द्रव्य हैं।

भावार्थ—जितने स्थान में एक परमाणु रक्खा जावे उसको प्रदेश कहते हैं। लोकाकाश असंख्यात प्रदेश है। प्रत्येक प्रदेश में काल का एक एक अणु है इस प्रकार सर्व लोकाकाश में काल द्रव्य भरा हुआ है।

एवंछब्भयमिदं जीवाजीवप्पभेददोदव्वं।
उत्तंकालविजुत्तं णादव्वापञ्चअत्थिकायादु॥२३॥

अर्थ—इस प्रकार एक जीव द्रव्य और पांच अजीव द्रव्य ऐसे छ भेद को लिये हुए द्रव्य का वर्णन किया गया इन छओ द्रव्यों में से कालद्रव्य के सिवाय शेष पांच द्रव्यों को अस्तिकाय जानना चाहिये ।

भावार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश यह पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं और कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं कहलाता है अगली गाथा में इन पांचों ही को अस्तिकाय क्यों कहा है । इसका हेतु पूर्वक निरूपण किया गया है ।

सन्तिजदोतेणदेअत्थिति भणन्तिजिणवराजह्मा ।
कायाइवबहुदेसा तह्माकायाय अत्थिकायाय ॥२४॥

अर्थ—क्योंकि पूर्वोक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, तथा, आकाश पांचों द्रव्य विद्यमान हैं इस वास्ते जिनेश्वर इनको "अस्ति" कहते हैं और चूंकि काय के समान यह द्रव्य बहु प्रदेशी हैं इस कारण इनको "काय" कहते हैं । इस हेतु यह पांचों द्रव्य अस्तिकाय हैं ।

भावार्थ—अस्ति अर्थात् विद्यमान होना, मौजूद होना यह गुण तो सबही द्रव्य में है अर्थात् कालद्रव्य भी अस्ति है परन्तु कालद्रव्य के अणु भिन्न भिन्न एक एक हैं अर्थात् एक एक प्रदेशी हैं इस कारण उसकी काय संज्ञा नहीं हो सक्ती है अन्य पांचों द्रव्य बहु प्रदेशी हैं इस हेतु वह अस्तिकाय कहलाते हैं । इसका ब्यौरा अगली गाथा में किया गया है ।

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे ।
मुत्तेतिविह पदेसाकालस्सेगोणतेण सो काओ ॥२५॥

अर्थ—जीव, धर्म तथा अधर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश हैं और आकाश में अनन्त प्रदेश हैं-पुद्गल में संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश हैं और काल के एकही प्रदेश है इस कारण काल काय नहीं है ।

भावार्थ—लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं और एक जीव सर्व लोकाकाश में फैल सक्ता है इस कारण जीव असंख्यात प्रदेशी हैं । धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य सर्व लोकाकाश में व्यापक हैं इस कारण वह दोनों असंख्यात प्रदेशी हैं । आकाश लोकाकाश से भी बाहर अनन्त है उसको कुछ सीमा नहीं है इस कारण वह अनन्त प्रदेशी है । पुद्गल द्रव्य के अनन्त परमाणु हैं । परन्तु एक परमाणु अलग भी होता है और दो चार, दस, बीस, हजार, लाख आदिक परमाणु मिलकर छोटा वा बड़ा स्कन्ध भी होता है

इस ही हेतु, पुद्गल को संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेशी कहा है-काल के अणु एक एक अलग २ हैं वह मिल कर स्कंध नहीं होते हैं इस कारण काल को काय नहीं कहते हैं।

पुद्गल का जब एक परमाणु अलग भी होता है तब उसको काय क्यों कहा जावे इसका उत्तर अगली गाथा में दिया गया है।

पुद्गल द्रव्य लोकाकाश ही में है अलोकाकाश में नहीं है और लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं तो पुद्गल द्रव्य के प्रदेश असंख्यात से अधिक अर्थात अनन्त कैसे हो सक्ते हैं? इसका उत्तर यह है कि पुद्गल के परमाणु अनन्त हैं जिस प्रकार लोहा पीतल आदिक धातु में अग्नि प्रवेश कर जाती है अर्थात जिस स्थान में लोहा पीतल आदिक के परमाणु हैं उसही स्थान में अग्नि के भी परमाणु स्थान पालेते हैं इस प्रकार बहुत सी अवस्था में पुद्गल में अवगाह अर्थात् स्थान देने वा स्थान पाने की शक्ति होती है इस कारण असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में ही अनन्त पुद्गल परमाणु भरे हुवे हैं-पुद्गल परमाणुओं के अनन्त होने से उनके प्रदेश भी अनन्त कहे गये हैं।

एयपदेसोवि अणु णाणा खंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसा उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ॥२६॥

अर्थ--एक प्रदेश का धारक भी परमाणु अनेक स्कंधरूप बहुत प्रदेशों से बहु प्रदेशी होता है इस हेतु सर्वज्ञदेव पुद्गल परमाणु को भी उपचार से काय कहते हैं।

भावार्थ—वह ही वस्तु काय कहाती है जो बहु प्रदेशी हो-जब अनेक परमाणु मिल कर स्कंभ हो तबही पुद्गल काय वाला होता है पुद्गल का एक परमाणु काय वाला नहीं है परन्तु ऐसे २ परमाणु मिल मिल कर ही स्कंध बनते रहते हैं इस हेतु उपचार नय से एक परमाणु भी काय ही कहलाता है।

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणु उट्ठद्धं।
तंखुपदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणारिहं ॥ २७ ॥

अर्थ—अविभागी पुद्गल अणु जितने आकाश को रोकता है वह प्रदेश है, वह प्रदेश सर्व परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ है।

भावार्थ—सब से छोटे से छोटा अणु जिसका विभाग न होसके वह परमाणु कहाता है-एक परमाणु जितने स्थान में आवे उस को प्रदेश कहते हैं-एक प्रदेश में सर्व

परमाणु समा सक्ते हैं गाहन शक्ति के कारण जैसा कि अग्नि लोहे के भीतर भी प्रवेश कर जाती है अर्थात जिस स्थान में लोहे के परमाणु हैं उसही स्थान में अग्नि के परमाणु भी अवगाह कर जाते हैं-इस से सिद्ध हुवा कि एक प्रदेश में अनेक परमाणु समा सक्ते हैं।

इति प्रथम अधिकारः

द्वितीय अधिकार

आसव बंधण संवर णिज्जरमोक्खो सपुण्णपावाजे।
जीवाजीवविसेसा तेविसमासेण पभाणमो ॥२८॥

अर्थ—आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुन्य और पाप इस प्रकार जीव और अजीव के जो भेद रूप पदार्थ अर्थात् पर्याय हैं उनका भी संक्षेप से कथन करते हैं।

भावार्थ—जीव और अजीव यह दोही प्रकार के पदार्थ हैं-जीव में कर्मों का आस्रव अर्थात् कर्मों की उत्पत्ति और जीव के साथ कर्मों का वन्ध अजीव पदार्थ के कारण होता है कर्मों के आने को रोकना जिसको सम्वर कहते हैं और बंधे हुवे कुछ कर्मों को दूर करना जिसको निर्जरा कहते हैं और सर्वथा कर्मों को दूर करना जिसको मोक्ष कहते हैं यह तीनों बातें अजीव पदार्थ को जीव से अलग करने से पैदा होती हैं

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्व कहलाते हैं अर्थात् मोक्ष मार्ग में यह ही सात तंत की बातें है।

कर्म बंध दो प्रकार का होता है-पापरूप वा पुन्यरूप इस कारण सात तत्वों के साथ पाप, पुन्य का कथन मिलाना भी आवश्यक है-पुन्य पाप मिलकर नौ ९ पदार्थ कहलाते हैं अर्थात् मोक्ष मार्ग में यह ९ बात जानने योग्य ज़रूरी हैं।

जीव और अजीव का वर्णन पीछे कर चुके हैं अब आगे बाकी के सात पदार्थों का कथन करते हैं— गाथा २९, ३० और ३१ में आस्रव का कथन है गाथा ३२ और ३३ में बंध का कथन है—गाथा ३४ और ३५ में संवर का कथन है-गाथा ३६ में निर्जरा का और गाथा ३७ में मोक्ष का कथन है—गाथा ३८ में पुन्य और पाप का कथन है।

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणोसविण्णेओ ।
भावासवो जिणुक्ते कम्मासवणं परो होदि ॥२९॥

अर्थ—आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है उस परिणाम को श्री जिनेन्द्र भगवान भाव आस्रव कहते हैं और भावास्रव से भिन्न ज्ञानावरणादि कर्मों का जो आस्रव है वह द्रव्य आस्रव है ।

भावार्थ—आत्मा के प्रदेशों में हलन चलन होने का नाम भाव आस्रव है और द्रव्य कर्म अर्थात् पुद्गल परमाणुओं का कर्म रूप होना द्रव्य परमाणुओं का कर्म रूप होना द्रव्य आस्रव हैं ।

मिच्छत्ताविरदिपमाद जोगकोधादओऽथविण्णेया ।
पण पण पणदसतिय चदुकमसो भेदादु पुव्वस्स॥३०॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविराति, प्रमाद, योग, और क्रोध आदिक कषाय यह पांच भेद भावआस्रव के हैं-मिथ्यत्व के पांच, अविराति के पांच, प्रमाद के पंद्रह, योग के तीन, और कषाय के चार भेद हैं ऐसे क्रमसे भेद जानने चाहिये।

भावार्थ—आत्मा के प्रदेशों में हलन चलन, जिससे कर्म की उत्पत्ति होती है पांच कारणों से होती है-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय ।

मिथ्यात्व-पर पदार्थों से रागद्वेष रहित अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभवन में श्रद्धान होने को सम्यक्त कहते हैं यह ही आत्मा का निज भाव है—इसके विपरीति भाव को मिथ्यात्व कहते हैं-मिथ्यात्व भाव के कारण संसारी जीव में अनेक तरंग उठती हैं अर्थात् जीव के शांति स्वभाव का नाश होता है इसी से यह कर्मों की उत्पत्ति का कारण है-मिथ्यात्व पांच प्रकार का है—एकान्त, विपरीत, विनय संशय और अज्ञान ।

वस्तु में अनेक गुण होते हैं जैसे दूध पीना शारीरक पुष्टी करता है परन्तु बहुत से रोगों में हानि कारक भी है--इस हेतु दूध लाभ दायक भी है और हानि कारक भी है मनुष्य जो २० वर्ष का है वह १० वर्ष के बालक से बड़ा और ५० वर्ष के मनुष्य से छोटा है इस हेतु वह बड़ा भी है और छोटा भी है इसही प्रकार वस्तु में अनेक गुण होते हैं परन्तु संसार के अल्पज्ञ जीव वस्तु के एक ही विषय को लेकर उसही के अनुसार उसका श्रद्धान कर लेते हैं इसही का नाम एकान्त मिथ्यात्व है जैसे पाप कर्म करने की अपेक्षा दान पूजादिक पुण्य कर्म करना बहुत अच्छा है परन्तु मोक्ष प्राप्ति की अपेक्षा पुण्य कर्म भी छोडने योग्य हैं—इस हेतु अनेक शास्त्रों में जो पुण्य कर्म

का उपदेश दिया गया है उसही को सम्पूर्ण धर्म मान लेना एकान्त मिथ्यात्व है— श्री वीतराग भगवान हमारा न कुछ बिगाड़ते हैं और न कुछ संवारते हैं क्योंकि वह राग द्वेष से रहित हैं परन्तु उनका ध्यान करने से उनकी वीतरागता को चितवन करने से हमारे परिणामों में बीतरागता आती है जिससे पाप कर्मों का क्षय होता है इस हेतु उपचारनय से वह हमारे दुःख को दूर करने वाले हैं परन्तु उनको साक्षात दुःखों का दूर करने वाला कर्ता परमेश्वर मानना एकान्त मिथ्यात्व है-स्नान आदिक शरीर शुद्धि और शुचि क्रिया से मन की मलिनता दूर करने में संसारी जीवों को सहायता मिलती है परन्तु स्नान करने वा शुचि क्रिया ही करने को धर्म मानना और मन की शुद्धि का कुछ भी विचार न करना एकान्त मिथ्यात्व है इसका ऐसा दृष्टान्त है कि अग्नि जलाने से रोटी बनती है परन्तु अनाज पीस कर आटे को पानी में गूंद कर और रोटी थेपकर आग्नि से तपे हुवे तवे पर सेकने से रोटी बनती है जो कोई न तवा तपावै न आटा लावै बरण अग्नि चूल्हे में जला देना काफ़ी समझै वह एकान्त मिथ्यात्वी है उसकी क्रिया से कभी रोटी न बन सकेगी और उसका आग जलाना व्यर्थ ही जावेगा- इसही प्रकार एकान्त मिथ्यात्व के हज़ारों लाखों दृष्टान्त दिये जा सक्के हैं और यदि जांच की जावे तो अन्य मत के बहुत से सिद्धान्त एकान्त मिथ्यात्व को ही लिये हुए हैं परन्तु शोक है तो यह है कि हमारे बहुत से जैनी भाई भी जैन शास्त्रों को न पढ़ने के कारण एकान्त मिथ्यात्व में फंसे हुये हैं।

उल्टी बात मानने को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं जैसे हिंसा में धर्म मानना।

सम्यक दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की अपेक्षा न करके अर्थात इस बात का विचार न करके कि जिसकी मैं विनय करता हूँ उस में सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र यह तीन गुण हैं वा नहीं, समस्त देव, कुदेवों की समान विनय करना और समस्त प्रकार के दर्शनों (मतों) को एकही मानना विनय मिथ्यात्व है।

किसी वस्तु को संशय रूप मानना संशय मिथ्यात्व है-अर्थात ठीक ठीक यक़ीन न होना, भ्रम रहना कि यह बात ऐसे है या दूसरी प्रकार है, जैसे सम्यग दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष मार्ग है या कि नहीं। हिताहित की परीक्षा रहित श्रद्धान का नाम अज्ञान मिथ्यात्व है जैसे वृक्षादिक एकेंद्री जीवों को अपने हिताहित का कुछ भी ज्ञान नहीं है वा बहुत से मनुष्य अपने संसार कार्य्यों में ऐसे लगे रहते हैं कि धर्म का कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं करते और धर्म से ऐसे ही अज्ञानी रहते हैं जैसे पशु, वा वृक्ष आदिक।

अविरति-अपने ही शुद्ध आत्मीक परम सुख में आनन्दित रहना आत्माका

निज स्वभाव है-उस परम आनन्द से विमुख हो कर यह जीव वाह्य विषयों में लगना है उसको अविरति कहते हैं वह अविरति पांच हैं-हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इनही के त्याग को व्रत कहते हैं-अथवा यही अविरति मन और पांचों इन्द्रियों की प्रवत्तिरूप ६ भेद तथा छः काय के जीवों को विराधना रूप ६ भेद ऐसे दोनों मिलाने से १२ प्रकार की भी है

कषायरूप परिणाम से अपने वा पर जीव के द्रव्य प्राण वा भाव प्राण का घात करना हिंसा है क्रोधादिक कषाय उत्पन्न होने से अपने शुद्धोपयोग रूप शांत परिणाम में वाधा पड़ती है इस हेतु अपने भाव प्राणों का घात होता है यह क्रोधादिक कषाय से आँखों का लाल होना चिहरे का चढ़ना अपने हस्त पादादिक का टूटना आदिक शरीर में बिकार होना अपने द्रव्य प्राणों में बाधा आना है यह भी हिंसा है दूसरे जीव को कुवचन कहना वा उसकी तरफ़ कुचेष्टा करना आदिक से उसके परिणाम में पीड़ा पहुंचाना उस जीव के भाव प्राण को घात करना है यह भी हिंसा है दूसरे जीव के शरीर के किसी अंग को छेदना काटना आदिक उसके द्रव्य प्राण को घात करना है यह भी हिंसा है

कषाय के योग से अपने को वा पर को हानि कारक अप्रशस्त वचन वोलना असत्य है।

बिना दिये हुए पदार्थ को कषाय से ग्रहण करना चोरी है।

पुरुष वेद, स्त्री वेद और नपुंसक वेद के उदय से पुरुष वा स्त्री से मैथुन करना अब्रह्म है।

संसार सम्बंधी वस्तुओं से ममत्व परिणाम का नाम परिग्रह है।

प्रमाद-शुद्ध आत्म अनुभव से डिगना, फिसलना, सावधान न रहना और व्रतादि के विषय अनादर का होना प्रमाद है।

चार विकथा--चार कषाय, पांच इन्द्रियविषय, निद्रा और राग यह १५ भेद प्रमाद के हैं।

ऐसी वार्ता का कहना वा सुनना जो संयम के विरोधी हो आत्मा के शुद्ध परिणाम को बिगाड़ने वाली हो उसको विकथा कहते हैं उसके मोटे रूप चार भेद हैं स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, और भोजनकथा, आत्मा के शुद्ध स्वरूप में क्षोभ उत्पन्न करने वाला जो परिमाण है उसको कषाय कहते हैं वह चार प्रकार है क्रोध मान-माया और लोभ, तथा अनन्तानुबंधी आदिक और हास्य आदिक भेद से कषाय के २५ भेद हैं।

इन्द्रियों के विषय में लगना भी आत्मा के शुद्ध परिणाम का बिगाड़ने वाला है इन्द्रिय पांच हैं स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण।

निद्रा से भी असावधानी होती है

राग किसी वस्तु से स्नेह करने को कहते हैं यह तो सबसे ही अधिक प्रमाद रूप है।

योग—शरीर के हिलने के कारण जीवात्मा भी जो शरीर में व्यापक है हिलती है-शरीर का हिलना तीन प्रकार है-मन में कुछ चिन्तवन करने से द्रव्य मन अर्थात् आठ पांखडी का कमल के आकार जो शरीर के अन्दर मन है वह हिलता है उसके हिलने से जीवात्मा हिलती है इसको मन योग कहते हैं, बचन बोलने में जिह्वा आदिक शरीर के अंग हिलते हैं उससे जीवात्मा हिलती है यह बचन योग है हाथ पैर आदिक शरीर के अन्य अंगो के हिलने से जीवात्मा हिलती है उसको काय योग कहते हैं-जीवात्मा में जब जब हलन चलन पैदा होगा तभी कर्मों का आस्रव होगा ऐसे संक्षेप से योग तीन प्रकार है और विस्तार से १५ भेद रूप है।

कषाय— मान, माया, लोभ और क्रोध यह चार कषाय हैं इनसे तो आत्मा के परिणाम में बिकार पैदा होकर कर्मों की उत्पत्ति होती ही है।

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि ।
दव्वासवोसणेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥३१॥

अर्थ—ज्ञानावरण आदि कर्मरूप होने के योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्य आस्रव जानना चाहिये-इस के अनेक भेद हैं-ऐसा श्री जिनेंद्र देव ने कहा है।

भावार्थ—किसी वस्तु में बिकार का होना किसी अन्य वस्तु के मिलने से ही हो सक्ता है-जीवात्मा में विकार उत्पन्न करने के अर्थ अजीव पदार्थ का ही मिलना हो सक्ता है-अजीव द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों में तो जुड़ने और टुकड़े होने की शक्ति नहीं है यह गुण तो पुद्गल में ही है इस हेतु पुद्गल परमाणुओं के ही मिलने से जीवात्मा बिकारी होता है-शीतल जल अग्नि के समीप होन से गरम हो जाता है। शीतल स्वभाव से विपरीत गरम भाव हो जाने अर्थात् गर्मी का बिकार पैदा हो जाने का यह ही कारण होता है कि शीतल जल में अग्नि के परमाणु सम्मिलित हो जाते हैं अग्नि के परमाणुओं के मिलने के बिना शीतल जल में गर्मी का बिकार नहीं आ सक्ता है इस ही प्रकार जीवात्मा भी द्रव्य कर्म अर्थात् पुद्गल परमाणुओं के मिलने से ही विकारी हो रहा है।

पुद्गल द्रव्य अनेक पर्याय धारण करता है-नीम के बीज में जल सींचने से वह जल नीम के वृक्ष के मूल, स्कंध टहनी, पत्ते, फूल और फल रूप होता है और कड़वी

ही कड़वी वस्तु पैदा करता है और उसही जल से नींबू का बीज सींचने से वही जल नींबू के वृक्ष के स्कंध, टहनी, पत्ते, और फूल रूप होता है और खट्टा नींबू पैदा करता है और वह ही जल मिरच के वृक्ष में जाने से चिरचरी मिरच रूप हो जाता है और ईख में जाकर अत्यन्त मधुर रस धारण करता है इस से यह सिद्ध हुआ कि पुद्गल द्रव्य जो पृथिवी, जल, अग्नि और वायु रूप हो रहा है वह ही अनेक प्रकार का पर्य्याय धारण कर लेता है-मनुष्य के शरीर में वही ही दूध मनुष्य के शरीर के आकार की सब धातु मांस, हड्डी, खून और वीर्य्य आदिक और आंख, कान, हाथ और पैर आदिक बनाता है और वही दूध बिल्ली के शरीर में जाकर बिल्ली के शरीर के अनुसार सब वस्तु बनाता है और सर्प के शरीर में जाकर सर्प के अनुसार जहर आदिक वस्तु बनजाता है, इसही प्रकार जीवात्मा में भाव आस्रव के द्वारा परिणमन होने से उस जीवात्मा के समीप वर्ती पुद्गल परमाणु आकर्षित होकर कर्म रूप बन जाते हैं।

जिस प्रकार बीज वा वृक्ष से आकर्षित मिट्टी पानी वायु और धूप आदिक के परमाणु उस वृक्ष के स्कंध, मूल, टहनी, पत्ता, फूल और फल रूप अनेक प्रकार की पर्य्याय धारण करते हैं इसही प्रकार जीव के भाव आस्रव से आकर्षित परमाणु भी ज्ञानावरण आदिक अनेक प्रकार के कर्मरूप बन जाते हैं।

मोटे रूप कर्मों के आठ भेद किये गये हैं। ज्ञानावरणीय २ दर्शनावरणीय ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र ८ अन्तराय

ज्ञानावरणीय-जो जीव के ज्ञान को ढकैं-इसके ५ भेद हैं।

दर्शनावरणीय-जो जीव के दर्शन को ढकै इसके ९ भेद हैं।

वेदनीय-जो सुख और दुख की अनुभव करावे—तथा सुख दुख की सामिग्री पैदा करै।

मोहनीय-इसके दो भेद हैं दर्शन मोहनी और चारित्र मोहनी-जो जीव के सच्चे श्रद्धान को भ्रष्ट करके मिथ्यात्व उत्पन्न करावै वह दर्शन मोहनी है इसके ३ भेद, जो जीव के शुद्ध और शान्त चारित्र को बिगाड़ कर कषाय उत्पन्न करावै वह चारित्र मोहनी है इसके २५ भेद हैं। इस प्रकार मोहनी के कुल २८ भेद हैं।

आयु-जो एक पर्य्याय में जीव की स्थिति का कारण हो इसके ४ भेद हैं।

नाम-जो शरीर का अनेक प्रकार का रूप पैदा करावे इसके ९३ भेद हैं।

गोत्र-जो ऊंच वा नीच अवस्था को प्राप्त करावै-इसके दो भेद हैं।

अन्तराय-जो अन्तर डाले, विघ्न पैदा करे इसके ५ भेद हैं।

इस प्रकार कर्मों के १४८ भेद मोटे रूप किये गये हैं वास्तव में कर्म के अनन्ते भेद हैं-१४८ भेदों का भिन्न २ वर्णन आगामी बंध के वर्णन में किया जावेगा।

वज्झदि कम्मं जेण दु चेदण भावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥३२॥

अर्थ—आत्मा के जिस भाव से कर्म आत्मा से बंधता हैं वह तो भाव बंध है और कर्म और आत्मा के प्रदेशों का सम्मिलित होना एक का दूसरे में प्रवेश होना वह दूसरा द्रव्य बंध है—

भावार्थ—आत्मा के जिस विकार भाव से जीवात्मा में कर्म बंध होता है उस विकार भाव को भाव बंध कहते हैं और उस विकार भाव के कारण कर्म के पुद्गल परमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों में सम्मिलित होना जिस प्रकार कि दूध और पानी मिलकर एकाकार हो जाते हैं इसको द्रव्य बंध कहते हैं।

पयडिट्ठिदि अणुभागपदेस भेदादु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ट्ठिदिअणुभागा कसायदोहोंति ३३

अर्थ—प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश इन भेदों से बंधचार प्रकार का है इन में योगों से प्रकृति और प्रदेश बंध होता है और कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं।

भावार्थ—कर्म जिस प्रकार का है अर्थात् जिस स्वभाव को लिये हुये कर्म है उसको प्रकृति कहते हैं-जितने समय तक वह कर्म आत्मा के साथ रहैगा उसको स्थिति कहते हैं-तीव्र वा मंद अर्थात हलका वा भारी जैसा उस कर्म का फल है उसको अनुभाग कहते हैं, कर्मों के आत्मा के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाह रूप जो सम्बंध होना है उसको प्रदेश बंध कहते हैं, इस प्रकार बंध का वर्णन महान ग्रन्थों में चार प्रकार किया गया है।

कषाय से जो योग होता है अर्थात् कषाय सहित मन वचन काय की जो क्रिया होती है उसको लेश्या कहते हैं उसही से बंध होता है बिना कषाय के मन, वचन वा काय की क्रिया होने से प्रकृति और प्रदेश बन्ध ही होता है स्थिति और अनुभाग नहीं होता है अर्थात् शरीर के हिलने से शरीर के अन्दर व्यापक आत्मा भी हिलती है यदि यह हिलना बिना किसी कषाय के है तो कर्म तो उत्पन्न हो जावेगी और आत्मा के हिलने के अनुसार वह उत्पन्न हुआ कर्म किसी न किसी प्रकार का भी

होगा अर्थात् कोई प्रकृति उस कर्म की अवश्य होगी और जब कर्म किसी प्रकृति का उत्पन्न हो गया तो वह आत्मा के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह रूप भी होगा अर्थात् प्रकृति और प्रदेश दो बातें पैदा हो जावेंगी परन्तु बिना कषाय के वह कर्म जीवात्मा के साथ सम्मिलत नहीं होगा बिना कषाय कर्म उत्पन्न होकर तुरंत ही नाश हो जायगा उसमें कोई स्थिति नहीं होगी और न उस में कोई रस होगा, कर्म की स्थिति और अनुभाग यह दो बातें कषाय से ही उत्पन्न होती हैं इस हेतु यदि योग कषाय सहित है तो कर्म बंध की चारों बातें पैदा हो जावेंगी।

मन, वचन और काय की क्रिया क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय में से किसी कषाय के द्वारा होने से कर्म बंध होता है, क्रिया भी तीन प्रकार की है सरंभ अर्थात् इरादा करना समारंभ उस कार्य की सामिग्री इकट्ठी करना और आरंभ अर्थात् उस कार्य को करना इनके भी तीन तीन भेद हैं, कृत आप करना कारित दूसरे से कराना और अनुमोदना अर्थात् करते को भला जानना इस प्रकार कर्म बंध के कारणों के अनेक भेद हैं अब पृथक् २ वर्णन करते हैं।

प्रकृतिबन्ध।

अब कर्मों की १४८ प्रकृति को वर्णन करते हैं।

ज्ञानावरणीय–मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्य्यय और केवल इस प्रकार ज्ञान के ५ भेद किये गये हैं इसही प्रकार इनके ढकने वाले कर्म के ५ भेद हैं।

दर्शनावरणीय–दर्शन के चार भेद हैं चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल इसही प्रकार चार भेद इनके आवरण अर्थात् ढकने वाले कर्म के हैं, इसके अतिरिक्त निद्रा भी दर्शन को नहीं होने देती है गहरी नींद और हलकी नींद की अपेक्षा निद्रा के निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ऐसे ५ भेद करके दर्शनावरण के ९ भेद होते हैं।

मोहनीय—दर्शनमोहनीय का बन्ध तो मिथ्यात्वरूप एकही प्रकार होता है परन्तु उदय में आकर उसके तीन भेद हो जाते हैं जिसका वर्णन आगामी रत्नत्रय के वर्णन में किया जावेगा। चारित्रमोहनी के कषाय वेदनीय, और नो प्रकषाय वेदनीय ऐसे दो भेद हैं जिनमें कषाय वेदनीय के मूल भेद क्रोध, मान, माया, लोभ, और प्रत्येक चार चार भेद अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानी, प्रयाख्यानी और संज्वलन हैं, अनन्तानुबन्धी वह कषाय है जिसके होते हुए सम्यक् श्रद्धा न हो सके, अप्रत्याख्यानी वह कषाय है जिसके होते हुए सम्यक् श्रद्धान तो होसके परन्तु श्रावक का वा मुनि का अर्थात् किसी

प्रकार का भी चारित्र न हो सके। प्रत्याख्यानी वह कषाय है जिसके उदय होते हुए गृहस्थी श्रावक का चारित्र तो हो सके परन्तु मुनि धर्म ग्रहण न हो सके, संज्वलन वह सूक्ष्म कषाय है जिसकें होते हुए मुनि धर्म हो सके परन्तु यथाख्यात चारित्र न पल सके, इस प्रकार कषाय वेदनीय के १६ भेद हुए और अनोकषायवेदनीय के हास्यादिनो कषाय रूप ९ भेद इस प्रकार चारित्र मोहनी के कुल २९ भेद हैं।

आयु—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इस प्रकार आयु के ४ भेद हैं।

वेदनीय-साता और असाता के भेद से वेदनीय दो प्रकार है। जिसके उदय से सुख रूप सामिग्री की प्राप्ति हो वह साता वेदनी है और जिसके उदय से दुःख दायक सामिग्री की प्राप्ति हो वह असाता वेदनी है।

गोत्र—उच्च और नीच ऐसे गोत्र दो प्रकार हैं।

अन्तराय—दान, लोभ, भोग, उपभोग और वीर्य्य अर्थात् शक्ति इन पांचों में विघ्न करे सो पांच प्रकार का अन्तराय कर्म है।

नाम—जिसके उदय से शरीर की आकृति उन का रंग, गंध, रस, स्पर्श और हड्डियों का जोड़ आदिक होता है, नाम कर्म के ९३ भेद किये गये हैं।

नामकर्म के ९३ भेद।

गति—जिसके उदय से आत्मा एक भव से दूसरे भव में गमन करती है। गति कर्म ४ प्रकार है नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्य।

जाति—जीव की जाति अर्थात् क़िसम ५ प्रकार है, एकेन्द्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, और पंचेंद्रिय, जिसके उदय से आत्मा एकेन्द्रिय जाति हो वह एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म है इसी प्रकार पांचों जानना।

शरीर-जिसके उदय से संसारी जीवों के शरीर की रचना हो, वह शरीर नाम कर्म पांच प्रकार का है वृक्षादिक, स्थावर, पशु, पक्षी और मनुष्य का शरीर अर्थात् स्थूल देह औदारिक है, देव नारकियों का शरीर वैक्रियिक है अर्थात् विक्रिया कर सक्ता है, अनेक प्रकार रूप धारण कर सक्ता है—प्रमत्त गुणस्थानी मुनि महाराज को शंका उत्पन्न होने पर उनकी आत्मा शरीर से बाहर फैल कर जहां श्री केवली वा श्रुत केवली भगवान हों वहां तक पहुंच कर अपनी शंका निवारण करके फिर शरीर में ही संकुचित हो जाती हैं उस समय मुनि के जो शरीर प्रगट होता है उसको आहारक शरीर कहते हैं-शरीर में जिस से तेज होता है वह तैजस शरीर है—ऋद्धि धारक मुनि को क्रोध वा दया उत्पन्न होने पर किसी को नष्ट करने वा उपकार करने में जो समर्थ होता है वह भी तैजस शरीर है—कर्म के पुद्गल परमाणुओं का नाम कार्माण शरीर है, कार्माण और तैजस यह दो शरीर संसारी जीव के सदा बने रहते हैं जब तक कि मुक्ति नहीं होती है—

अङ्गोपाङ्ग-मस्तक, पीठ, हृदय, बाहु, उदर, नलक, हाथ, पांव इन को अंग कहते हैं और ललाट नासिका आदिक उपांग हैं-अंगोपांग नाम कर्म तीन प्रकार है-औदारिक शरीर अंगोपांग-वैक्रियक शरी-

रांगोपांग-आहारिक शरीरांगोपांग, जिसके उदय से अंग उपांगों का भेद प्रकट होता है वह अंगोपांग नाम कर्म कहलाता है।

निर्माण—जिस कर्म के उदय से अंगोपांग की उत्पत्ति हो वह निर्माण कर्म है-यह दो प्रकार है एक स्थान निर्माण और दूसरा प्रमाण निर्माण; अंगोपांग का योग्य स्थान में निर्माण होना स्थान निर्माण है और अंगोपांग की योग्य प्रमाण लिये रचना करे सो प्रमाण निर्माण है।

बन्धन—जिस के उदय से शरीर नाम कर्म के वश से ग्रहण किये हुये पुद्गल परमाणुओं का शरीर रूप बन्धन होता है वह बन्धन नाम कर्म पांच प्रकार है। औदारिक बन्धन, वैक्रियक बन्धन, आहारक बन्धन, तैजस बन्धन, और कर्माण बन्धन।

संघात—जिस के उदय से शरीरों में छिद्र रहित एक दूसरे के प्रदेशों में प्रवेश रूप संघटन (एकता) होवे उसे संघात नाम कर्म कहते हैं वह भी पांच प्रकार है। औदारिक संघात, वैक्रियक संघात, आहारक संघात, तैजस संघात और कार्माण संघात।

संस्थान—शरीर की आकृति का होना। छे प्रकार है। (१) सम चतुरस्र संस्थान अर्थात् ऊपर नीचे और मध्य में समान विभाग से शरीर की आकृति का उत्पन्न होना। (२) न्यग्रोध परिमण्डल अर्थात् वट वृक्ष के समान शरीर का नाभि के नीचे का भाग पतला होना और ऊपर का मोटा होना। (३) स्वाति संस्थान अर्थात् शरीर का नीचे का भाग मोटा होना और ऊपर का पतला (४) कुब्ज संस्थान अर्थात् कूब निकला हुवा कुबड़ा शरीर (५) वामन संस्थान अर्थात् छोटा शरीर जिसको बावना कहते हैं (६) हुंडक अर्थात् बिल्कुल बेडौल शरीर।

संहनन—अर्थात् शरीर की हड्डियों का जोड़। संहनन नाम हाड़ों के समूह का है। नसों से हाड़ों के वेष्टित होने का नाम ऋषभ वा वृषभ है। कीलों के द्वारा हाड़ों के जुड़ने का नाम नाराच है। संहनन ६ प्रकार है (१) वज्रवृषभ नाराच संहनन अर्थात् हाड, कील, नस सब वज्र के समान मजबूत हों। (२) वज्र नाराच संहनन अर्थात् हाड और कील वज्र के समान हों और नस सामान्य हों (३) नाराच संहनन अर्थात् हाड़ों की संधि कीलों से जुड़ी हुई हों परन्तु वज्र के समान कोई नहो सब सामान्य हों (४) अर्ध नाराच संहनन अर्थात् हाड़ों की संधि आधी कीलों से जुड़ी हो (५) कीलक संहनन अर्थात् नाराच न हो कील ठुकी हुई नहों हाड ही आपुस में कीले हुवे हों। (६) असंप्राप्ता सृपाटिका संहनन अर्थात् हाड आपुस में ठुके हुये नहों वरण दो हाड मिलाकर उन पर नस और मांस आदिक लिपटा हुवा हो।

स्पर्श—अर्थात् शरीर में स्पर्श गुण का होना। और वह ८ प्रकार है। कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत, और उष्ण।

रस-अर्थात् शरीर में रस का होना और वह ५ प्रकार है। तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर

गन्ध—अर्थात् शरीर में गन्ध का होना वह २ प्रकार है। सुगन्ध और दुर्गंध।

वर्ण—शरीर में रङ्ग का होना। ५ प्रकार है। शुक्ल, कृष्ण, नील, रक्त, और पीत।

आनुपूर्व्य—पूर्व आयु के उच्छेद होने पर जब जीव शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर में जाता है तब जीव छूटने वाले शरीर में मौजूद रह कर बाहर फैलता है और उस स्थान तक पहुंचता है जहां उसको नवीन शरीर धारण करना है। वहां पहुंच कर प्रथम शरीर को छोड़ देता है और सुकड़ कर दूसरे शरीर में समाजाता है। इस प्रकार दूसरे शरीर को ग्रहण करने और प्रथम शरीर के छोड़ने की क्रिया को विग्रह गति कहते हैं। इस गति में तैजस और कार्माण दो शरीर रहते हैं। जब तक जीव नवीन शरीर में नहीं

समाजाता है तब तक तैजस और कार्माण शरीरों का आकार वैसाही रहता है जैसा पूर्व शरीर का था। उस आकार के रहने का कारण आनुपूर्व्य नाम कर्म है। जब जीव नवीन शरीर में समा जाता है तब तैजस और कार्माण शरीरों का आकार नवीन शरीर के अनुसार हो जाता है। आनुपूर्व्य के चार भेद हैं। (१) नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य अर्थात् नरक गति में जाते हुवे जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्मप्रदेशों का रहना (२) देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्य अर्थात् देवगति में जाते हुवे जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्मप्रदेशों का रहना (३) मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्व्य अर्थात् मनुष्य गति में जाते हुवे जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्मप्रदेशों का रहना (४) तिर्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य अर्थात् तिर्यंच गति में जाते हुवे जो पूर्व शरीर था उसके आकार आत्मप्रदेशों का रहना।

अगुरुलघु—जिसके उदय से शरीर न तो ऐसा भारी हो जो नीचे गिरजावे और न ऐसा हलका हो जो आक की रूई की तरह उडजावै।

उपघात—शरीर के अवयवों का ऐसा होना कि आपही अपने को बांध लेवै आपही अपना घात करले।

परघात—सींग, नख और विष आदिक पर को घात करने वाली वस्तु शरीर में होना।

आताप—ऐसा शरीर का होना जिस में आग के समान गर्मी हो।

उद्योत—ऐसे शरीर का होना जिस में उद्योत अर्थात् रोशनी हो।

उच्छ्वास—सांस लेना।

विहायोगति—ऐसा शरीर होना जो आकाश में गमन कर सके वह दो प्रकार का है। प्रशस्त और अप्रशस्त।

प्रत्येक—एक जीव के वास्ते ही एक शरीर का होना।

साधारण—बहुत जीवों का एक ही शरीर होना, अनन्ते निगोदिया जीवों का एक ही शरीर होता है उन सब का जन्म मरण और सांस लेना आदिक सब क्रिया इकट्ठी ही होती है यह निगोदिया जीव वनस्पति कायही होते हैं।

त्रस—आत्मा का द्वीन्द्रियादिक रूप उत्पन्न होना।

स्थावर—आत्मा का पृथ्वी आदि एकेंद्री रूप उत्पन्न होना।

सुभग—ऐसा शरीर जिस को देख कर देखने वाले को प्रीति उत्पन्न हो।

दुर्भग—ऐसा शरीर जिस को देख कर अप्रीति उपजै।

सुस्वर—जिस के उदय से शब्द सुन्दर होवै।

दुःस्वर—जिस के उदय से अमनोज्ञ स्वर की प्राप्ति हो।

शुभ—शरीर के अवयव देखने में सुन्दर हों।

अशुभ—शरीर के अवयव देखने में असुन्दर हों।

सूक्ष्म—ऐसा बारीक शरीर हो कि वह किसी वस्तु से न रुके लोहा, मिट्टी, पत्थर आदिक के भी बीच में हो कर निकल जावै।

बादर—जो सूक्ष्म नहो अर्थात् स्थूल शरीर हो और रुकै।

पर्याप्ति—आहार आदिक जो पर्याप्ति कहाती हैं उनका प्राप्त होना। वह ६ प्रकार है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन।

अपर्याप्ति जिस के उदय से जीव छहों पर्याप्ति में से एक भी पर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर सके उसे अपर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।

स्थिर—उपवास और तपश्चरण तथा कष्ट आदिक के आने पर भी शरीर में स्थिरता का बना रहना और शरीर के धातु उपधातु का अपने २ स्थान में स्थिर रहना।

अस्थिर—किंचित कारण पाकर शरीर के धातु उपधातु की स्थिरता का बिगड़ जाना।

आदेय—प्रभा सहित शरीर का होना।

अनादेय—शरीर का प्रभा रहित होना।

यशःकीर्ति—यश और कीर्ति का होना।

अयशःकीर्ति—अपयश और अकीर्ति का होना अर्थात् पाप रूप गुणों की ख्याति का होना।

तीर्थङ्करत्व—तीर्थंकर पदवी अर्थात् अरहंतपना का प्राप्त होना।

इस प्रकार ९३ प्रकृति नाम कर्म की हैं।

मन, वचन और काय यह तीन प्रकार के योग हैं इनही के अनुसार प्रकृति और प्रदेश बन्ध है–योगों की चंचलता जैसी कमती बढ़ती होती है वैसाही कमती बढ़ती प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है। योग के द्वारा एक समय में कर्म के जितने परमाणु उत्पन्न होते हैं वह आठों प्रकार के कर्मों में बँट जाते हैं। अधिक भाग वेदनी में उससे कम मोहनी में उससे कम ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय में उससे कम नाम और गोत्र में जाता है। वेदनी, गोत्र और आयु इनकी उत्तर प्रकृतियों में एकही एक प्रकृति का एक समय में बन्ध होता है अर्थात वेदनी में साता, असाता में से एक का गोत्र में उच्च या नीच एक का। आयु की चार प्रकृति में से एक का। मोहनी कर्म में जो नो कषाय हैं उन में तीन वेद में से एक वेदका, रति अरति में से एक का और हास्य और शोक में से एक का बन्ध होता है। मोहनी कर्मकी बाकी सर्व-प्रकृति और ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय की सर्व प्रकृतियों का बन्ध एकही समय में होता है। नाम कर्म में जो जो प्रकृति एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं उन में से एकही प्रकार की प्रकृति का बन्ध होता है। इस प्रकार जिन २ प्रकृतियों का एक समय में बन्ध होसक्ता है उन सब में एक समय में आये कर्म परमाणु तक़सीम होजाते हैं। परन्तु जिस अवस्था में वा जिस गुणस्थान में जिस २ प्रकृति का बन्ध होही नहीं सक्ता है उस उस अवस्था में जो जो प्रकृति बन्ध योग्य नहीं हैं उन में कर्म पुद्गल का बटवारा भी नहीं होता है।

एक समय में जो वस्तु मनुष्य खाता है उसके परमाणुओं से हड्डी, नस, खून, मांस, चाम, वीर्य, कफ़, पसीना, पेशाब और पाखाना आदिक बनता है अर्थात प्रत्येक खाई हुई वस्तु के परमाणु हड्डी, मांस आदिक रूप बँटजाते हैं और फिर सिरकी हड्डी,

परकी हड्डी, हाथकी हड्डी आदिक विभागों में और आंख, नाक, हृदय, पेट आदिक अवयवों में बँटते हैं इसही प्रकार प्रत्येक समय में योगों के द्वारा उत्पन्न हुए कर्म परमाणुओं का बटवारा होता है।

स्थितिबन्ध।

जो वस्तु हम खाते हैं उस में से किसी वस्तु का असर हमारे शरीर में अधिक समय तक रहता है और किसी का बहुत थोड़े समयतक। यहही दशा कर्मोंकी है कि कोई कर्म अधिक समयतक रहता है और कोई थोड़े समयतक इसही को स्थिति बन्ध कहते हैं। स्थिति बन्ध कषाय के अनुसार है। कषाय जैसी हलकी भारी होगी वैसी कर्म की स्थिति होगी। कषाय हलकी अर्थात मन्द है तो कर्मकी स्थिति भी कमती होगी और कषाय तेज अर्थात तीव्र है तो स्थिति भी ज्यादा होगी।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन यह चार भेद जो कषाय के किये गये हैं वह कषाय की तीव्र वा मन्द अपेक्षा से नहीं हैं वह तो सम्यक्त वा चारित्र ग्रहण करने की अपेक्षा से हैं। तीव्र मन्द की अपेक्षा कषायों के हजारों और लाखों दर्जे होसक्ते हैं परन्तु मोटे रूप चार दर्जे हैं। अति तीव्र, तीव्र, मन्द और अति मन्द।

अनुभाग बन्ध।

जो वस्तु हम खाते हैं उन में से कोई वस्तु ऐसी होती है जो पेट में वा शरीर के किसी दूसरे अंग में पीड़ा करदे परन्तु कोई वस्तु कम पीड़ा देनेवाली होती है और कोई अधिक पीड़ा देनेवाली होती है इसही प्रकार कोई वस्तु पीड़ाको दूर करनेवाली और हर्ष पैदा करानेवाली होती है परन्तु इस में भी कोई कमती हर्ष उत्पन्न करानेवाली होती है और कोई ज्यादा। इसही प्रकार किसी समय कर्म अधिक फल देनेकी शक्ति वाला और किसी समय कम फल देनेकी शक्ति वाला पैदा होता है। इसही को अनुभाग बन्ध कहते हैं। वह परिणाम जिससे कर्म उत्पन्न हो जितना संक्लेश रूप अधिक होगा उतनाही अशुभ कर्मों का अधिक अनुभाग बन्ध और शुभ कर्मों का कमती अनुभाग बन्ध होगा और परिणाम जितना विशुद्ध रूप अधिक होगा उतनाही शुभ कर्मों का अधिक अनुभाग बन्ध और अशुभ कर्मों का कमती अनुभाग बन्ध होगा।

कर्मों का अलटना पलटना।

हमने एक वस्तु ऐसी खाई जो हमारे शरीर में पीड़ा कररही है दूसरी कोई वस्तु ऐसी भी होसक्ती है जो पीड़ाको दूर करनेवाली और आप सुखदाई हो और पहली

खाई हुई वस्तु जो पीड़ा कररही है उसको भी पचाकर और पलटकर सुखदाई बनादेवें। वा कोई वस्तु सुखदाई हमने खाई उसके पीछे ऐसी वस्तु खाई जासक्ती है जो पहली खाई हुई वस्तु को भी दुखदाई बना दे और आप भी दुखदाई हो।

इसही प्रकार यह भी देखने में आता है कि जिसको बलगम (कफ) की बीमारी अधिक होजावे वह जो कुछ खाता है उसका बलगम ही बनता रहता है-यह ही दशा कर्मों की है कि नवीन कर्म के प्रभाव से पहले बन्ध हुवे कर्मों में अलट पलट हो जाती है और इसही प्रकार पहले कर्मों के प्रभाव से नवीन कर्मों पर असर पड़ता है

इस कथन को समझाने के वास्ते हम कर्म बन्धन के दस रूप वर्णन करते हैं—बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदय, उदीणा, उपशांत, निद्धत, निकांचना और सत्व—अब इनका पृथक २ सरूप दिखाते हैं—

बन्ध—साधारण कर्मरूप पुद्गल परमाणुओं का जीव के साथ मिलजाना।

उत्कर्षण—किसी कर्म का जो स्थिति और अनुभाग पहले था नवीन कर्म के मिलने से उस स्थिति अनुभाग में अधिकता होजाना।

अपकर्षण—जो स्थिति अनुभाग पहले था उसमें कमी होजाना।

संक्रमण—एक प्रकृति के कुछ परमाणुओं का दूसरी प्रकृतिरूप होजाना जैसे असाता वेदनी कर्म का साता वेदनीरूप होजाना। परन्तु आठ कर्मों में से एक प्रकार का कर्म दूसरे कर्मरूप नहीं हो सक्ता है। प्रत्येक कर्म के जो अनेक भेद हैं उन एक एक कर्म के भेदों में आपुस मेंही संक्रमण होता है। जैसे ज्ञानावरणी कर्म के पांच भेद हैं उन पांचों भेदों में संक्रमण अर्थात् अलटन पलटन हो जावैगा जैसा कि मति ज्ञाना वरणी कर्म के कुछ परमाणु अवधि ज्ञानावरणी रूप होजावैं परन्तु मोहनी वा और कोई कर्म रूप नहीं हो सक्ते हैं। यहां तक कि मोहनी कर्म के जो दो भेद दर्शनमोहनी और चारित्रमोहनी हैं इनका भी आपुस में संक्रमण नहीं होता है। चारित्रमोहनी के जो २५ भेद हैं उनही का आपुस में संक्रमण होसक्ता है वह पलटकर दर्शन मोहनी नहीं बनसक्ते। परन्तु आयु कर्म का अपने भेदों अर्थात चारों उत्तर प्रकृतियों में भी संक्रमरण नहीं है।

उदय—कर्म बंध के पश्चात् जब तक कि वह कर्म फल नहीं दे सक्ता है उसको आवाधा काल कहते हैं-आवाधाकाल के पश्चात् कर्म की स्थिति तक जितने समय होते हैं उतने ही बिभाग कर्म परमाणुओं के होकर एक भाग को निषेक कहते हैं-एक एक निषेक एक एक समय में उदय आता रहता है अर्थात् फल देकर नष्ट होता रहता है।

उदीर्णा—जो निषेक अभी तक उदय में आने योग्य नहीं हुआ है उसको पहलेही उदय में ले आना अर्थात् उदय आने वाले निषेक में मिला देना-भावार्थ कर्म को जल्दी उदय लाकर खिरा देना।

उपशांत—वह निषेक जो अभी उदय में आने वाले नहीं हुवे हैं परन्तु जिनकी उदीर्णा हो सक्ती है।

निद्धत—वह निषेक जो अभी उदय में आने वाले या संक्रमण होने वाले नहीं हैं परन्तु जिनकी उदीर्णा हो सक्ती है

निकांचित—वह निषेक जो अभी उदय आने वाले या संक्रमण होने वाले या उत्कर्षण या अपकर्षण होने वाले नहीं हैं परन्तु जिनकी उदीर्णा हो सक्ती है।

सत्व—कर्मों का विद्यमान रहना।

इसके अतिरिक्त कर्म की एक प्रकृति बिल्कुल भी दूसरी प्रकृति में बदल सक्ती है उसको विसंयोजन कहते हैं—परन्तु यह पलटना मूल प्रकृतियों में नहीं हो सक्ता है अर्थात् ज्ञानावरण आदिक आठ कर्मों में से कोई कर्म बदल कर दूसरा कर्म नहीं हो सक्ता है वरण एक एक कर्म के जो कई कई भेद हैं उन में से एक भेद पलट कर बिल्कुल दूसरे भेद रूप हो सक्ता है।

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥३४॥

अर्थ—आत्मा का जो परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है उसको निश्चय से भाव संवर कहते हैं और जो द्रव्य आस्रव को रोकने में कारण है वह द्रव्य संवर है—

भावार्थ—कर्मों को पैदा न होने देना अर्थात् रोकना सम्वर कहाता है—जिन परिणामों से कर्म का पैदा होना बन्द होता है वह आत्मा के परिणाम भाव सम्वर कहाते हैं और उसही के रुकने से पुद्गल परमाणु कर्म रूप नहीं होते हैं उसको द्रव्य संवर कहते हैं—

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य।
चारित्तं वहुभेया णायव्वा भावसंवर विसेसा ॥३५॥

अर्थ—व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और अनेक प्रकार का चारित्र यह सब भावसंवर के भेद जानने चाहियें।

भावार्थ—अपनी शुद्ध आत्मा के ही भाव में मग्न रहना रागद्वेषादि विकल्पों से रहित होना ही कर्मों के न पैदा होने का कारण है-ऐसी शुद्ध अवस्था पैदा होने के कारण व्रत समिति आदिक हैं-अब इन कारणों की पृथक, व्याख्या की जाती है।

व्रत— निश्चय से रागद्वेषादिक विकल्पों से रहित होने का नाम व्रत है-और इस अवस्था को प्राप्त करने वाले अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्म और अपरिग्रह यह पांच व्यवहार रूप कारण हैं यह ही पांच व्रत कहाते हैं - कषाय से अपने या पर जीव के भाव प्राण वा द्रव्यप्राण को पीड़ा न देना अहिंसा व्रत है। कषाय से अपने को या पर को हानि कारक अप्रशस्त वचन न बोलना सत्यव्रत है- कषाय से बिना दिये हुए पदार्थ को ग्रहण न करना अचौर्य व्रत है - पुरुष वा स्त्री से मैथुन का न करना ब्रह्म व्रत है, अपनी निज आत्मा से पर पदार्थों में ममत्व का न होना अपरिग्रह है।

समिति—अपने शरीर से अन्य जीवों को पीडा न होने की इच्छा से यत्नाचार रूप प्रवृति करना समिति है। कर्मों के पैदा होने को रोकने को पूरी पूरी कोशिश त्यागी मुनिही कर सकते हैं उनका सावधानी से क्रिया करना भी कर्मों के पैदा होने को रोकने में सहकारी कारण है इसी को समिति कहते हैं वह सावधानी पांच प्रकार है ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और उत्सर्ग, दिन में ही चलना रात्रि को न चलना, ऐसे रास्ते पर चलना जिस पर मनुष्य और पशु आदिक चलते रहे हों आहिस्ता २ आगे को देखते हुवे चलना, चलते समय इधर उधर न देखना, अर्थात् ऐसी सावधानी से चलना जिस से किसी जीव की हिंसा न हो इसका नाम ईर्या समिति है। हितकारी प्रमाणीक संदेह रहित प्रिय वचन कहना भाषा समिति है - दिन में एक बार निर्दोष आहार लेना एषणा समिति है-शास्त्र, पीछी और कमंडल आदिक जो कुछ मुनि के पास होता है उसको नेत्रों से देखकर और पीछी से सोधकर इस प्रकार धरना उठाना कि किसी जीव को बाधा न हो आदान निक्षेपण समिति है। मल मूत्र इस प्रकार सावधानी से डालना जिसमें जीव को बाधा न हो उत्सर्ग समिति है।

गुप्ति—मन, वचन और काय के व्यापार को वश करना क़ाबू में लाना व रोकना गुप्ति है।

धर्म–उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य यह दस प्रकार का धर्म कहाता है। क्रोध कषाय के कारण परिणामों में कलुषिता न होने देना क्षमा है। मान अर्थात् मद न करना मार्दव है। माया अर्थात् छल कपट का न करना आर्जव है, यथार्थ वचन कहना सत्य है। लोभ गृद्धिता अर्थात् लालच को दूर कर अन्तः

करण को पवित्र रखना शौच है। इन्द्रिय निरोध और जीवों की रक्षा करना संयम है कर्म क्षय करने के अर्थ इच्छा के निरोध करने को तप कहते हैं। इस हेतु जिन कारणों से इच्छा का निरोध होता है वह तप है वह तप दो प्रकार का है वाह्य और अन्तरंग, वाह्यतप ६ प्रकार है अनशन, ऊनोदर, विविक्तश्य्यासन, रस परित्याग, कायक्लेश और वृत्तिपरि संख्या॥ आहार त्याग का नाम अनशन है। भूख से कमती आहार करना अवमोदर्य्य वा ऊनोदर है। विषयी जीवों के सञ्चार रहित निरुपद्रव स्थान में सोना बैठना विविक्तश्य्यासन है। दुग्ध, दही, घृत, तेल, मिष्ठान्न, लवन इन छै प्रकार के रसों का त्याग करना रस परित्याग है। शरीर को परीषह देकर पीड़ा का सहन करना कायक्लेश है। और अमुक प्रकार से अमुक आहार मिलेगा तो भोजन करूंगा अन्यथा भोजन नहीं करूंगा इस प्रकार प्रवृत्ति की मर्य्यादा करना वृत्ति परिसंख्या है।

अतरंग तप भी छै प्रकार है - विनय, वैय्यावृत्य प्रायश्चित, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान-आदर भाव को विनय कहते हैं-विनय दो प्रकार है मुख्य विनय और उपचार विनय-सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान और सम्यक् चारित्र को अपने कल्यान का हेतु समझ कर धारण करना मुख्य विनय है और इनके धारण करने वाले श्रीवीतराग भगवान और श्रीआचार्य आदिकों को नमस्कार आदि करना और इनकी भक्ति के वश परोक्ष रूप में भी उनके तीर्थ क्षेत्र आदिकों की बन्दना करना उपचार विनय है। धर्मात्माओं की सेवा चाकरी करना वैय्यावृत्य है। प्रमाद से यदि कोई दोष हो जावे तो दंड ग्रहण करके दोष निवारण करना प्रायश्चित है। धन धान्यादिक वाह्य और क्रोधमान माया आदिक अन्तरंग परिग्रहों में अहंकार ममकार का त्याग करना व्युत्सर्ग है। सत्य शास्त्रों का पढ़ना, अभ्यास करना, पढ़ाना, उपदेश देना, सुनना और सुनाना स्वाध्याय है। समस्त चिन्ताओं को त्याग कर एक ओर लगना ध्यान है ध्यान का विस्तार रूप वर्णन आगामी किया जावेगा।

दया भाव करके पर जीव को ज्ञान और आहार आदि देना त्याग है परिग्रह का अभाव और शरीर आदिक में ममत्व का न होना आकिंचन्य है। अपनी शुद्ध आत्मा में तल्लीन रहना और पुरुष वा स्त्री भोग का त्याग करना ब्रह्मचर्य्य है।

अनुप्रेक्षा—बार बार विचार करने को अनुप्रेक्षा वा भावना कहते हैं कल्यानकारी भावना बारह प्रकार की हैं जिनसे संम्बर होता है। अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधदुर्लभ और धर्म—

अध्रुव को अनित्य भावना भी कहते हैं। धन, धान्य, महल, मकान, स्त्री, पुत्र, शरीर, पदवी, अधिकार आदिक जगत की सर्व वस्तु विनाशीक हैं, सदा स्थिर रहने

वाली कोई वस्तु नहीं है। अपने २ स्वभावानुसार सर्व वस्तु अपनी पर्य्याय पलटती हैं और कुछ से कुछ हो जाती हैं। ऐसा विचार करना अध्रुव भावना है।

अशरण–जगत में कोई शरण नहीं है कर्मों के फल से कोई बचाने वाला नहीं है। राजा, महाराजा, भाई, बन्धु, मन्त्र, औषधि आदिक कोई भी वस्तु बचाने वाली नहीं है जिसकी शरण ली जावै।

संसार–संसार का अर्थ संसरण अर्थात् चक्र की तरह घूमना है यह जीव ८४ लाख योनि में घूमता फिरता है कभी कोई पर्य्याय धारण करता है और कभी कोई इस प्रकार तेली के बैल की तरह घूमताही रहता है। नहीं मालूम एक २ पर्य्याय कितनी २ बार धारण की हो और यदि मुक्ति न हुई तो कितनी २ बार धारण करेगा। यह संसार भावना है।

एकत्व–स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, महल, मकान, धन, धान्य, आदिक जगत की सब वस्तु यहां तक कि जीवका शरीर भी पर पदार्थ है कोई भी वस्तु सदा साथ रहने वाली नहीं है। जिस प्रकार रस्ता चलते एक मुसाफिर को दूसरे मुसाफिर से साथ हो जाता है इसही प्रकार जगत की वस्तुओं का साथ है और जिस प्रकार रास्ते में मिले हुए मुसाफिर बिछड़ २ कर अपने अपने स्थान को चले जाते हैं इसही प्रकार जगत की सर्व वस्तु बिछड़ २ कर अपने २ स्वभावानुसार अपने २ रस्ते लगती हैं। यह जीव वास्तव में अकेलाही है। मरण समय सर्व वस्तु यहीं रह जाती हैं कोई भी साथ नहीं जाती। जीव के कर्म जो साथ जाते हैं वह भी अपना फल देकर अलग होते रहते हैं। जीव का साथी कोई भी वस्तु नहीं है। जीव अकेलाही है यह एकत्व भावना है।

अन्यत्व–जीव चैतन्य है इस हेतु सर्व अचेतन पदार्थ तो इससे पराये हैं ही परन्तु जीव एक दूसरे से भी अन्यही है। आपुस में एक नहीं हैं। अपनी २ परिणति के अनुसार प्रवर्तते हैं। इस हेतु किसी से भी ममत्व नहीं करना चाहिये। यह अन्यत्व भावना है।

अशुचित्व-यह शरीर अत्यन्त अशुचि और घिणावना है। मांस, रुधिर, हाड़, चाम, आदिक अपवित्र वस्तुओं का ही बना हुआ है। इस हेतु शरीर ममत्व के योग्य नहीं है। यह अशुचित्व भावना है।

आस्रव--आस्रव अर्थात् कर्मों के पैदा होने से यह जीव संसार में रुलता है इस हेतु जिन २ कारणों से आस्रव होता है उनका विचार करके उनसे बचने काही उपाय करना चाहिये यह विचार आस्रव भावना है।

सम्वर—सम्वर अर्थात् कर्मों के पैदा होने को रोकने सेही यह जीव संसार समुद्र

से तिर सका है इस हेतु संवर के कारणों को विचार करके उन कारणों को ग्रहण करना चाहिये यह विचार संवर भावना है।

निर्जरा—कर्मों का कुछ दूर होना निर्जरा है। निर्जरा के कारणों को जानकर जिस तिस प्रकार बंधे हुए कर्मों को दूर करना चाहिये ऐसा निर्जरा संबन्धी विचार करना निर्जरा भावना है।

लोक-लोक के तीन भेद हैं अधोलोक, मध्यलोक, और उर्ध्वलोक यहही तीन लोक कहाते हैं। अधोलोक में नरक है। नरक की सात पृथिवी हैं रत्नप्रभा, उसके नीचे शर्कराप्रभा उसके नीचे बालुका प्रभा उसके नीचे पंकप्रभा उसके नीचे धूमप्रभा उसके नीचे तमःप्रभा और सब से नीचे महातमःप्रभा है। नरक के नीचे स्थान में निगोद आदि पंच स्थावर जीव भरे हुवे हैं। रत्नप्रभा के तीन भाग हैं। खर, पंक और अब्बहुल, खर भाग में सात प्रकार के व्यन्तर, पंकभाग में असुर और राक्षस रहते हैं और अब्बहुल भाग से नरक प्रारम्भ होता है इस भाग में नारकी रहते हैं।

मध्यलोक में मनुष्यों तिर्यंचों के रहने की पृथिवी और सूर्य्य चन्द्रमा नक्षत्र आदिक हैं।

ऊर्ध्वलोक में एक युगल (जोडा) के ऊपर दूसरा इस प्रकार १६ स्वर्ग हैं सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लातव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत, इन १६ स्वर्ग के ऊपर नव ग्रैवेयक हैं इनके भी ऊपर नवा अनुदिश पटल है। इसके भी ऊपर पञ्चानुत्तर पटल हैं। इन में भी देव रहते हैं। इनके ऊपर मोक्ष शिला है। इस प्रकार तीन लोक के स्वरूप का चिन्तवन करना कि लोक कितना बड़ा है उसमें क्या क्या स्थान हैं और किस २ स्थान में क्या २ रचना है और वहां क्या होता है सो लोक भावना है।

इस लोक भावना से संसार परिभ्रमण की दशा मालूम होती है और इससे छूटने और मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा होती है।

बोधि दुर्लभ एकेंद्रियादिक बहुत से जीवों को तो ज्ञान नाम मात्र ही होता है पंचेंद्री भी बहुत से जीव पशु आदिक कुछ आत्म शुद्धि नहीं कर सक्ते हैं। देव और नारकी चारित्र नहीं पाल सक्ते और मुक्ति नहीं पा सक्ते एक मनुष्य देह से ही मुक्ति होती है। और सम्यक् दर्शनादि पल सकते हैं सो यह मनुष्य देह बड़ी दुर्लभता से प्राप्त होती है इस को पाकर भी धर्म का उपदेश और धर्म पालने का समागम मिलना दुर्लभ है ऐसी दशा में अपने कल्यान का अवसर यदि किसी प्रकार मिल गया है तो उसको

अहोभाग्य जान कर प्रमाद करना और आत्म साधन न करना अति मूर्खता है। इस प्रकार रत्न त्रय की प्राप्ति दुर्लभ होने के विचार को बोध दुर्लभ भावना कहते हैं।

धर्म—धर्म के स्वरूप का चिन्तवन करना तथा धर्म ही संसार से तिराने वाला है यह ही शिवपुर में पहुंचाने को रेलगाड़ी है संसारीक सुख भी इसही से मिलता है। दुखों से निवृत्ति भी धर्म से ही होती है ऐसा विचार करना धर्म भावना है।

परीषहजय—मुनिमहाराज २२ प्रकार की परीषह अर्थात् पीड़ा को रागद्वेष और कलुषता रहित सहन करते हैं इसको परीषहजय कहते हैं यह भी संवर का कारण है वह २२ परीषह इस प्रकार हैं॥ क्षुधा अर्थात् भूख, तृषा अर्थात् प्यास, शीत अर्थात् जाड़ा, उष्ण अर्थात् गर्मी, नग्न अर्थात् नंगा रहना, याचना अर्थात् किसी से कुछ न मांगना, अरति अर्थात् संयम में अनुराग का अभावन होने देना, अलाभ अर्थात् भोजन के अर्थ जाने में भोजन न मिलना, दंश मसकादि अर्थात् बन में नग्न रहने पर डांस मच्छर मक्खी कानखजूरा और सर्पादि से पीड़ा पहुंचना, आक्रोश अर्थात् दुर्जन मनुष्यों के दुर्बचन सहना, रोग अर्थात् शरीर में बीमारी का होना, मल अर्थात् शरीर पर मैल लग जाना और उसको दूर न करना, तृण स्पर्श अर्थात् कांटा कंकर और फांस आदिक का चुभना, अज्ञान अर्थात् किसी वस्तु का ज्ञान न होने का खेद न करना, अदर्शन अर्थात् बहुत काल तपश्चरण करने पर भी कुछ फल प्राप्ति न होने से सम्यग्दर्शन को दूषित न करना, प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान की वृद्धि होने पर मान न करना सत्कार पुरस्कार अर्थात् आदर सत्कार न चाहना और सत्कार पाने पर हर्षित न होना और तिरस्कार पाने पर दुखित न होना, शय्या अर्थात् खुरदरी पथरीली भूमि पर शयन करने को दुःखं न मानना, वध बंधन अर्थात् दुष्ट मनुष्यों द्वारा वध बंधनादि दुःख पाने पर समता रखना, निषद्या अर्थात् निर्जन वन में जहां सिंह आदि दुष्ट जीव रहते हैं निवास करने का दुःख न मानना, स्त्री अर्थात् महा सुन्दर स्त्री को देख कर भी चित्त में विकार न होना।

चारित्र—आत्मस्वरूप में स्थित होना चारित्र है उसके पांच भेद हैं। (१) सब जीवों में समता भाव रखना संपूर्ण शुभ अशुभ संकल्प विकल्पों का त्यागरूप समाधि धारण करना तथा रागद्वेष का त्याग करना और सुख दुःख में मध्यस्थ रहना यह समायिक चारित्र है। (२) सामायिक में स्थित रहने को असमर्थ होने पर अर्थात् डिगजाने पर फिर अपने को अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव में लगाना वा व्रत आदिक में भंग पड़ने पर प्रायश्चित आदिक से फिर सावधान होना छेदोपस्थापन चारित्र है (३) रागद्वेषादिक विकल्प को त्यागकर अधिकता के साथ आत्मशुद्धि करना परिहार

विशुद्धि चारित्र है (४) अपनी आत्मा को कषाय से रहित करते करते सूक्ष्मलोभ कषाय नाममात्र को रहजावै उसको सूक्ष्मसांपराय कहते हैं उसके भी दूर करने की कोशिश करना सूक्ष्मसांपराय चारित्र है। (५) कषाय रहित जैसा निष्कंप आत्मा का शुद्धस्वभाव है वैसा होकर उस में मग्न होना यथाख्यात चारित्र है। चारित्र के अनेक भेदों का वर्ण आगामी विस्तार से किया जावैगा। इस प्रकार संवर के अनेक कारण वर्णन कियेगये।

जह्नकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलंजेण।
भावेणसडदिणेया तस्सडणे चेदिनिज्जरादुविह्वा ॥३६

अर्थ—आत्मा के जिस परिणामरूप भाव से कर्म्म रूपी पुद्गल फल देकर नष्ट होते हैं वह भाव निर्जरा है और समय पाकर वा तप से कर्मरूप पुद्गलों का नष्ट होना द्रव्य निर्जरा है।

भावार्थ—किसी कर्म के नष्ट होने का नाम निर्जरा है। जब किसी कर्म का फल हो चुकता है तो वह कर्म दूर होजाता है इस प्रकार फल देकर अपने समय पर कर्म का दूर होना सविपाक निर्जरा है और तप करके समय से पहले ही किसी कर्म को नष्ट कर देना अविपाक निर्जरा है।

तप से संवर भी होता है और निर्जरा भी होती है।

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेयो स भावमुक्खो दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो॥३७॥

अर्थ—सब कर्मों के नाश का कारण जो आत्मा का शुद्ध परिमाण है वह भाव मोक्ष है और आत्मा से सर्वथा कर्मों का जो दूर होना है वह द्रव्य मोक्ष है।

भावार्थ—सर्व कर्म नष्ट होकर जीवात्मा के शुद्ध होने का नाम मोक्ष है। एक वार कर्मों से रहित होकर और निज शुद्ध परमानन्द स्वरूप पाकर फिर यह जीव कभी भी कर्मों के बन्ध में नहीं पड़ता है। क्योंकि योग कषाय आदिक कोई भी कारण कर्म आस्रव का शेष नहीं रहता है। जीव का कर्म बंध अनादि सान्त है अर्थात् अनादि से तो यह जीव कर्मों के बन्धन में पड़ा हुआ है परन्तु यह बंधन दूर हो कर इसको मुक्ति हो जाती है अर्थात् कर्म बन्धन का अन्त हो जाता है। मुक्ति सादि अनन्त है अर्थात्

मुक्ति की आदि है परन्तु इसका अन्त नहीं है सदा ही के वास्ते रहती है। परन्तु यद्यपि जीव अनादि से बन्धन में पड़ा हुवा है और किसी समय मुक्ति प्राप्त करता है तौभी बन्धन में पड़ना शुद्ध निश्चय नय से जीव का निज स्वभाव नहीं है। जीव का निज स्वभाव तो शुद्ध और मुक्त ही है इस हेतु जीव को नित्य मुक्त भी कहते हैं।

जीव निराकार है और कर्म पुद्गल हैं अर्थात् मूर्तीक हैं इस हेतु इन का सम्बन्ध होना कठिन है परन्तु अनादि काल से ऐसा सिलसिला चला आता है कि कर्मों के साथ नवीन कर्म मिलते रहते हैं इस प्रकार कर्मों से कर्मों का सम्बन्ध होता रहता है। और उन ही में से कर्म नष्ट भी होते रहते हैं अर्थात् निर्जरा भी होती रहती है। जब एक बार सब कर्म दूर हो जाते हैं तब फिर किसी कारण से भी जीव के साथ कर्म बन्ध नहीं हो सक्ता है।

कोई २ वस्तु अनन्त भी होती है अर्थात् जिनकी न कुछ गिणती हो सके और न कुछ सीमा हो। जिसमें से कितनी ही वस्तु निकलती रहैं तौभी अनन्त ही बाक़ी रहैं। आकाश के प्रदेश अनन्त हैं उनका कोई अन्त नहीं है क्योंकि तीन लोक के बाहर भी आकाश है और बाहर के आकाश की कोई सीमा नहीं है। आकाश की जो कुछ सीमा बांधी जावै उस सीमा के बाहर भी आकाश अवश्य है। आकाश का कोई अन्त नहीं है। इस ही प्रकार जीवों की गिणती भी अनन्त है इनका भी कोई अन्त नहीं है। इस हेतु चाहे जितने जीव मोक्ष में जाते रहें तो भी संसार में अनन्त जीव बाक़ी रहते हैं संसार में कभी जीव ख़तम नहीं हो सक्ते हैं, जीव तीन लोक के ही भीतर हैं तीन लोक से बाहर नहीं हैं, तीन लोक की हद्द है बेहद्द नहीं, परन्तु जीव में अवगाहन शक्ति है अर्थात् जिस स्थान में एक जीव हो उसही स्थान में अनेक जीव समा सक्ते हैं इस हेतु तीन लोक में अनन्त जीव समाये हुवे हैं, पुद्गल में भी अवगाहन शक्ति है अर्थात् एक पुद्गल दूसरे पुद्गल में समा सक्ता है जैसे लोह में अग्नि समा जाती है, जिस स्थान में एक दीपक का प्रकाश है उसही स्थान में अनेक दीपकों का प्रकाश समा सक्ता है, इस ही हेतु पुद्गल के परिमाणु भी अनन्त हैं, अनन्त जीवों की अनन्त देह हैं और अनन्त जीव और उनकी अनन्त देह अवगाहन शक्ति से तीन लोक ही में समाई हुई हैं।

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं ह्वंति खलुजीवा।
सादं सुहाउणामं गोदं पुण्णं पराणि पावंच ॥३८॥

अर्थ-शुभ और अशुभ परिणामों में युक्त जीव पुन्य और पाप रूप होते

हैं॥ साता वेदनी, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्चगोत्र इस प्रकार जो कर्मों की प्रकृतियें हैं वे तो पुन्य प्रकृति हैं और बाकी सब पाप प्रकृतियें हैं।

भावार्थ-शुभ परिणामों से पुन्य होता है और अशुभ परिणामों से पाप होता है, कर्मों के दो भेद हैं एक घातिया जो जीव के गुणों का घात करते हैं, और दूसरे अघातिया जो गुणों को घात नहीं करते हैं। ज्ञानावरणी, दर्शणावरणी मोहनी और अन्तराय यह चारों कर्म घातिया हैं इस हेतु यह तो पाप कर्म ही हैं, बाकी चार कर्मों में वेदनी कर्म में सातावेदनीं पुन्य कर्म है और असातावेदनी पाप कर्म है, आयु कर्म में देव आयु मनुष्य आयु औरतिर्यंच आयु यह तीन पुन्य कर्म हैं और नरक आयु पाप कर्म है, नाम कर्म की ९३ प्रकृतियों में ५३ प्रकृति पुन्य रूप हैं।

शुभराग, अनुकम्पा और चित्त प्रसाद इन कारणों से पुन्य कर्म पैदा होता है। धर्म और धर्मात्माओं से राग करना शुभ राग है। दया भाव करके किसी जीव के दुःख दूर करने की कोशिश करना अनुकम्पा है। कषायों की मंदता से चित्त में क्षोभ उत्पन्न न होना शांति का होना अर्थात् प्रसन्न रहना चित्त प्रसाद है।

इसके विरुद्ध अन्य प्रकार की क्रियाओं से पाप कर्म पैदा होता है॥ ज्ञानावरणी आदि प्रत्येक कर्म के उत्पन्न होने के कारण साधारण रूप से इस प्रकार हैं।

प्रदोष—अर्थात् ज्ञानीं पुरुष ज्ञान का व्याख्यान करता हो उस पर ईर्षा करके उसकी प्रशंसा न करना चुप हो जाना, निह्नव अर्थात् किसी बात का ज्ञान रखते हुवे भी किसी के पूछने पर न बताना इनकार कर देना कि मैं नहीं जानता, मात्सर्य अर्थात् इस विचार से कि जो यह ज्ञान प्राप्त कर लेगा तो मेरी बराबरी करेगा किसी को ज्ञान का न बताना, अन्तराय अर्थात् कोई ज्ञान का अभ्यास करता हो उसमें विघ्न कर देना पुस्तक, पाठक पाठशाला आदिक की प्राप्ति में विघ्न डालना, जिस कार्य से ज्ञान का प्रचार होता हो उस कार्य को बिगाड़ना विरोधकरना-आसादन अर्थात् कोई पुरुष ज्ञान का उपदेश करे वा प्रकाश करे उसको किसी बहाने से रोक देना—उपघात अर्थात् सत्य ज्ञान में दूषण लगाना द्वेष करना, यह सब कार्य ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म के पैदा होने के कारण हैं।

१ अपने वा पराये परिणाम पीडा रूप करना अर्थात् दुःख पैदा करना २ शोक करना वा दूसरे को शोक उपजाना ३ सोच करना पश्चाताप करना वा दूसरे को कराना ४ विलाप करना आंसू बहाना वा दूसरे को रुलाना जिसको आक्रंदन कहते हैं ५ अपने को वा पर को मारना शरीरको पीड़ा पहुंचाना वा कोई अंग छेद करना जिसको बध कहते हैं ६ इतना ज़ोर से विलाप करना वा कराना कि जिससे

सुनने वाले के हृदय में दया उत्पन्न हो जावै जिसको परिदेवन कहते हैं यह सब असातावेदनी कर्म के पैदा होने के कारण है।

व्रती धर्मात्मा वा सर्व प्रकार के जीव अर्थात् प्राणीमात्र के दुःख दूर करने रूप परिणामों का होना जिसको भूतव्रत्यनुकम्पा कहते हैं, पर के तथा अपने उपकारार्थ दान देना, सराग संयम अर्थात् राग सहित संयम करना भावार्थ धर्म और धर्मात्मा से प्रीति और दुष्ट कर्मों के नष्ट करने में राग होना चित्त में शांति रखना क्रोधादि कलुषता पैदा न करना लोभ का कम करना इन सब कार्यों से सातावेदनी कर्म की उत्पत्ति होती है।

केवल ज्ञानी, शास्त्र, मुनि सच्चे धर्म और देवों को दूषण लगाना दर्शनमोहनीय कर्म अर्थात् मिथ्या श्रद्धान को पैदा करनेवाले हैं।

तीव्र कषाय रूप परिणामों से चारित्र मोहनीय कर्म की उत्पत्ति होती है अर्थात् कषाय करने से अगामी को चारित्र मोहनी कर्म का आस्रव होता है।

बहुत आरम्भ करना और बहुत परिग्रह रखना नरकआयुकर्म के आस्रव का कारण है। माया अर्थात् छल कपट करना कुटिल परिणाम रखना तिर्यंच आयुकर्म पैदा होने का कारण है।

थोड़ा आरम्भ करना थोड़ा परिग्रह रखना और स्वभाव सेही कोमल परिणाम का होना मनुष्यआयुकर्म के पैदा होने के कारण हैं।

सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बालतप और सम्यक् श्रद्धान यह सब देवआयुकर्म के पैदा होने के कारण हैं। धर्म और धर्मात्मा में प्रीति और भक्ति को सरागसंयम कहते हैं। अनुव्रत अर्थात् श्रावगव्रत धारण करने को संयमासंयम कहते हैं। किसी पराधीन कारण से अर्थात् लाचारी से बेबस होकर भूख प्यास आदिक पीड़ा सहनी पड़े या मारने ताड़ने आदिक के त्रास भोगने पड़ें वा अन्य प्रकार कोई कष्ट उठाना पड़े तो उस दुख को मन्द कषाय रूप होकर सहन करै इसको अकाम निर्जरा कहते हैं। आत्मज्ञान रहित अर्थात् मिथ्यात्व अवस्था में तप करने को बाल तप कहते हैं।

मन, वचन और काय की वक्रता अर्थात् कुटिलता से हिलना और अन्यथा (उल्टा) रूप प्रवर्तना इससे अशुभ नाम कर्म पैदा होते हैं।

मन, वचन और काय का सरल और सीधा होना और यथार्थ प्रवर्तना शुभ नाम कर्म पैदा करता है।

पर की निन्दा और अपनी प्रशंसा करना पर के विद्यमान गुणों को छिपाना और अपने अविद्यमान गुणों को प्रकट करना नीच गोत्र के आस्रव का कारण है।

अपनी निन्दा पर की प्रशंसा अपने गुणों को छिपाना पर के गुणों को प्रकाश करना नीचा रहना अर्थात् दूसरों का विनय करना और अनुत्सक अर्थात् अपने गुणों का घमंड नहीं करना उच्चगोत्र कर्म पैदा होने का कारण है।

पर के दान भोगादि कर्मों में विघ्न करना अन्तराय कर्म के आस्रव का कारण है।

नामकर्म की प्रकृतियों में एक तीर्थंकर प्रकृति है जो १६ प्रकार की भावनाओं से पैदा होती है। वह भावना इस प्रकार है। (१) दर्शन विशुद्धि अर्थात् निर्मल सम्यक् श्रद्धान (२) विनय संपन्नता अर्थात् देव गुरु और शास्त्र की विनय (३) शीलव्रतष्वेन-तीचार अर्थात् व्रत में निरतिचार प्रवृति (४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग अर्थात् निरन्तर तत्वाभ्यास रखना (५) संवेग अर्थात् संसार के दुःखों से भयभीत रहना (६) शक्तितः त्याग अर्थात् शक्ति को नहीं छिपाकर दान करना (७) शक्तितः तप अर्थात् अपनी सामर्थ्य भर तप करना (८) साधु समाधिः अर्थात् मुनियों के विघ्न और कष्ट को दूर करके उनके संयम की रक्षा करना (९) वैयावृत्यकरण अर्थात् रोगी साधु की सेवा (१०) अर्हद्भक्ति अर्थात् श्रीअरहंत की भक्ति (११) आचार्य भक्ति अर्थात् श्रीआचार्य की भक्ति (१२) बहुश्रुत भक्ति अर्थात् शास्त्र के अधिक जाननेवाले श्रीउपाध्याय की भक्ति (१३) प्रवचन भक्ति अर्थात् शास्त्र के गुणों में अनुराग (१४) आवश्यका परि-हाणिः अर्थात् सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकीय क्रियाओं में हानि न करना (१५) मार्ग प्रभावना अर्थात् जैनधर्म का प्रभाव बढाना (१६) प्रवचनवत्सलत्व अर्थात् साधर्मी जनों के साथ गऊ बच्चे की समान प्रीति का होना।

॥ इति द्वितीयोऽधिकारः ॥

तृतीय अधिकार।

सम्मद्दंसण णाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा॥३९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण जानो। निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप जो निज आतमा है वह ही मोक्ष का कारण है।

भावार्थ—सच्चा श्रद्धान सच्चा ज्ञान और सच्चा आचरण यह तीनों बात इकट्ठी होने से मोक्ष की सिद्धि होती है। और वास्तव में यह तीनों गुण आत्मा के हैं इस लिये निश्चय से आत्माही को मोक्ष का कारण जानो यह तीनों कारण तीन रत्न अर्थात् रत्नत्रय कहाते हैं।

रयणत्तयंन वट्टइ अप्पाणमुइत्तु अण्णादिविअह्मि।
तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा॥४०॥

अर्थ—आत्मा के सिवाय अन्य किसी द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता है इस कारण रत्नत्रयमयी जो आत्मा है वह ही निश्चय नय से मोक्ष का कारण है।

भावार्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्र यह आत्माही में होते हैं पुद्गल, धर्म अधर्म, अकाश और काल इन पांच द्रव्यों में से किसी द्रव्य में भी दर्शन, ज्ञान चारित्र नहीं होसक्ता क्योंकि यह पांचों द्रव्य अजीव हैं अचेतन हैं जड़ हैं। इस हेतु जीवात्माही वास्तव में मोक्ष का कारण है वह ही रत्नत्रय का धारक है।

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणोतं तु।
दुरभिणिवेश विमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि॥४१॥

अर्थ—जीव आदि पदार्थों का जो श्रद्धान करना है वह सम्यक्त्व है और वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है। और इस सम्यक्त्व के होने पर संशय, विपर्य्यय और अनध्यवसाय रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

भावार्थ—जानना अर्थात् ज्ञान और निश्चय करना रुचि करना यक़ीन करना अर्थात् श्रद्धान यह दो प्रथक २ बातें हैं। ज्ञान और बात है और श्रद्धान और, फ़ारसी वाले ज्ञान को इल्म और श्रद्धान को यक़ीन कहते हैं। अङ्गरेज़ी में ज्ञान को नाॅलिज Knowledge और श्रद्धान को बिलीफ़ belief कहते हैं।

धर्म कथन अर्थात् मोक्ष मार्ग में अपनी आत्मा को शुद्ध निरञ्जन मानना और निज आत्मा से भिन्न शरीर आदिक सब पदार्थों को भिन्न समझना और संसारीक अवस्था को कर्मों के बस क़ैदख़ाना समझ कर इस से छुटकारा पाना आवश्यक समझना अर्थात् इन सब बातों की श्रद्धा मन में होना सच्चा श्रद्धान अर्थात् सम्यक्दर्शन है।

वस्तु को ज्यों का त्यों जानना सच्चा ज्ञान है। जिस ज्ञान में तीन प्रकार के दोष नहीं होते हैं वह ही सच्चा ज्ञान होता है (१) संशय अर्थात् दुभिदा रूप ज्ञान

कि यह है वा वह है इस प्रकार है वा उस प्रकार है । जैसे आकाश में चमकती हुई वस्तु को देखकर संशय करना कि क्या तो यह तारा है वा कागज़ का तुर्रा है जिस में अग्नि जलती हुई होती है और अग्नि के जोर से आकाश में चढ़ जाता है (२) विपरीत अर्थात् उल्टी बात जानना जैसे कोई औषधि कोई रोग उत्पन्न करने वाली हो और उसको उसही रोग के दूर करने वाली जानना (३) अनध्यवसाय वा विभ्रम अर्थात् यह मालूम ही न होना कि क्या वस्तु है। संशय में तो किसी वस्तु की बाबत दो चार ही प्रकार का ख़याल होता है कि यह है वा यह है परन्तु विभ्रम में कुछ पता ठिकाना ही नहीं होता है। जैसे रस्ते चलते हुवे मनुष्य के पैर से धरती में पड़ी हुई अनेक वस्तु स्पर्श करती हैं परन्तु केवल इतनाही ज्ञान होता है कि कोई वस्तु पैरों से लगती जाती है उसमें संशय भी प्राप्त नहीं होता कि अमुक है वा अमुक और न कुछ विपर्य ही होता है ।

इस प्रकार तीन दोष ज्ञान में नहीं होते हैं तो ज्ञान ठीक होता है ।

सम्यक् दर्शनवाले काही ज्ञान सम्यक् ज्ञान कहाता है । बिना सम्यक्त के ज्ञान मिथ्या है ।

जिस वस्तु का श्रद्धान होगा उसका ज्ञान अवश्य होगा अर्थात् ज्ञान और श्रद्धान दोनों एक साथ ही होते हैं ऐसा होही नहीं सकता है कि किसी वस्तु का श्रद्धान हो और ज्ञान न हो क्योंकि जब उस वस्तु की जानकारी ही नहीं है तो उसका श्रद्धान ही क्या होगा परन्तु ऐसा होसक्ता है कि ज्ञान हो और श्रद्धान न हो।

धर्म मार्ग के कथन में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं । यद्यपि इन तत्त्वों का श्रद्धान शास्त्र के पढ़ने वा उपदेशों के सुनने सेही बहुधा कर हो सक्ता है परन्तु यह श्रद्धान बिना लिखे पढ़े तुच्छ बुद्धि जीवों को भी हो सक्ता है क्योंकि सम्यक् दर्शन के वास्ते यह जरूरी नहीं है कि सातों तत्वों के नाम और उनके भेदों को जानै, परन्तु इन तत्त्वों के अभिप्राय में प्रतीत का हो जानाही सम्यक् दर्शन है। मन्द बुद्धि मनुष्य भी यह प्रतीत कर सक्ता है कि मैं अर्थात् मेरा जीव शरीर आदिक से भिन्न है और ज्ञान शक्तिवाला है, और क्रोध आदिक कषाय इसके उपाधिक और दुखदाई भाव हैं, इन उपाधिक भावों को दूर करने सेही सच्चा आनन्द प्राप्त होता है । यह सम्यक् दर्शन मन्द बुद्धी मनुष्यों को तो क्या बरण पशु पक्षियों को भी प्राप्त हो सक्ता है क्योंकि मोटे रूप उपरोक्त बातों के आशय की प्रतीत उनको भी हो सक्ती है ।

सम्यक्दर्शन के न होने का नाम मिथ्यात्व है । मिथ्यात्व भी मोह ही का अंश है । मोहनी कर्म के दो भेद हैं एक दर्शन मोहनी अर्थात् सम्यक्दर्शन का नष्ट करने वाली और दूसरी चारित्र मोहनी अर्थात् मोक्ष साधन रूप चारित्र को बिगाड़ने वाली । दर्शन मोहनी कर्म का बंध एकही रूप होता है जिसको मिथ्यात्व कहते हैं परन्तु उदय इसका तीन रूप से होता है । एक मिथ्यात्वरूप दूसरे मिथ्यात्व और सम्यक् मिले हुवे मिश्ररूप इस ही के उदय में मिश्र नाम वाला तीसरा गुण स्थान होता है । तीसरे सम्यक्त रूप जिसको सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व कहते हैं इस में यद्यपि सम्यक्त होता है परन्तु मिथ्यात्व की झलक होने के कारण मल सहित होता है इसको वेदक सम्यक्त कहते हैं और क्षायोप समिक सम्यक्त भी कहते हैं इस सम्यक्त में तीन प्रकार के दोष होते हैं चल, मल और अगाढ़ । जिसके सम्यक् भाव में तरंग उठती हैं उसको चल कहते हैं दृष्टान्त रूप उसको यह विचार होता है कि यह मन्दिर मेरा है यह दूसरे का है इस प्रकार उसका श्रद्धान अनेक प्रकार चलायमान होता है परन्तु आत्मीक श्रद्धान में बाधा नहीं आता है इस कारण सम्यक्त बनाही रहता है । इस सम्यक्ती में शंकादिक दोष भी उत्पन्न होते हैं जो २५ प्रकार के हैं जिनको मल कहते हैं इनका वर्णन आगे किया जावैगा । और यह सम्यक्त गाढ़ा अर्थात् दृढ़ भी नहीं होता है इस कारण इसमें अगाढ़ दोष होता है अर्थात् इसको ऐसी २ प्रतीति होती है कि अमुक भगवान् की पूजा करने से अमुक कष्ट दूर होता है और अमुक भगवान् का नाम लेने से अमुक कार्य सिद्ध होता है इत्यादिक अदृढ़ता अर्थात् ग़ैर मज़बूती उसके श्रद्धान में होती है । ऐसा सम्यक्ती सातवें अप्रमत्त गुण स्थान तक पहुंच सक्ता है अर्थात् मुनि तक होसक्ता है ।

सम्यक्त के भेद ।

बीमारी के दूर होने की तीन अवस्था होती है एक बीमारी का प्रगट रूप हट जाना परन्तु बीमारी के कारणों का शरीर में मौजूद रहना जैसे बुख़ार उतर गया है परन्तु बुख़ार का कारण नहीं हटा इस कारण बुखार फिर चढ़ैगा इसको उपशम कहते हैं ।

दूसरे बीमारी का कुछ कम हो जाना और उसके कारण का कुछ नष्ट हो जाना कुछ मौजूद रहना इसको क्षयोपशम कहते हैं । तीसरे बीमारी के कारण का बिल्कुल दूर होजाना इसको क्षय कहते हैं । इसही प्रकार मिथ्यात्व भी एक बीमारी है जिस का दूर होना अर्थात् सम्यक्दर्शन तीन प्रकार का है । क्षायोपशम सम्यक्त का तो ऊपर वर्णन हो ही चुका है । मिथ्यात्व का उपशम होकर सम्यक्त होना उपशम सम्यक्त है और मिथ्यात्व के क्षय होने से सम्यक्त का होना क्षायक सम्यक्त कहाता है ।

उपसम सम्यक्त से न मुक्ति होसक्ती है और न इस सम्यक्त से क्षायक सम्यक्त होता है। उपशम सम्यक्त तो मिथ्यात्व के दबने से हुवा है जिस में मिथ्यात्व मौजूद ज़रूर है इस कारण वह मिथ्यात्व उमर कर अवश्य उपसम सम्यक्त को बिगाड़ता है।

उपशमसम्यक्त के दो भेद हैं। मिथ्यात्व अवस्था से जो उपशमसम्यक्त होता है उसको प्रथमोपशम सम्यक्त कहते हैं और वह अन्तर मुहूर्त रहता है। अन्तर मुहूर्त के पीछे या तो मिथ्यात्वी हो जावैगा या क्षायोपशमिक अर्थात् वेदक सम्यक्त हो जावैगा, सातवें गुणस्थानी महामुनि जिसके क्षायोपशमिक सम्यक्त हो उसको यदि क्षायोपशमिक सम्यक्त से औपशमिक सम्यक्त होजावै तो उसको द्वितीयोपशम सम्यक्त कहते हैं और ऐसा सम्यक्ती ग्यारहवें गुणस्थान तक जा सक्ता है परन्तु आगे उन्नति नहीं कर सक्ता है वह अवश्य नीचेही गिरता है।

क्षायक सम्यक्त प्राप्त होने पर फिर नहीं छूटता है और अधिक से अधिक चार भव धारण करके मोक्ष करलेता है। इसमें प्रथम क्षायोपशमिक सम्यक्त होकर फिर क्षायक सम्यक्त होता है। परन्तु क्षायक सम्यक्त प्राप्त होने का प्रारम्भ श्रीकेवली भगवान वा श्रुत केवली के निकट ही हो सक्ता है अन्यथा नहीं, यह नियम प्रारम्भ करने काही है क्षायक सम्यक्त की प्राप्ती चाहे अन्य भव में हो और तब केवली भगवान मिलैं वा न मिलैं।

सम्यक्त के ८ अङ्ग

चारों प्रकार का सम्यक्त निम्न लिखित आठ अङ्गों के होने से अधिक कार्यकारी और शोभायमान हो जाता है परन्तु सम्यक्दर्शन बिना इन अङ्गों के भी हो सक्ता है। वह ८ अङ्ग इस प्रकार हैं।

(१) निःशङ्कित—तत्वार्थ में अर्थात् उन सिद्धान्तों और पदार्थों में जिन में श्रद्धान होने से सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है किसी प्रकार की शङ्का न करना, संदेह न करना कि वह सिद्धान्त वा पदार्थ सत्य है वा झूठ। परन्तु समझने के अर्थ विचार करना, तर्क उठाना और अधिक विद्वान से पूछना शङ्का नहीं है।

(२) निःकांक्षित—अपने पुन्यरूप कर्मों से अर्थात् धर्म साधन से संसारिक फल प्राप्ति की वांच्छा नहीं करना।

(३) निर्विचिकित्सा—अर्थात् किसी जीव को दुखी, दरिद्री, अपवित्र, कुचेष्टावान आदिक अवस्था में देख कर ग्लानि न करना और यह ही समझना कि यह सब नीच कर्मही नाच रहे हैं और संसार की अपवित्र और घिणावनी वस्तुओं को

देख कर घृणा न करना और यह ही विचार करना कि इन वस्तुओं का ऐसाही स्वरूप है और यह तेरा शरीर तो सब से ही अधिक अपवित्र है।

(४) अमूढ़दृष्टित्व—अर्थात् वे सोचे समझे विना परीक्षा किये अन्धे की तरह लोगों के देखा देखी अर्थात् जिस प्रकार लोक में प्रवृत्ति हो रही है उस प्रचार के अनुसार कु देव, कु गुरू कु शास्त्र, और कु धर्म को मानना, उनकी प्रशंसा आदि करना मूढ़ता है। सम्यक्ती को उचित है कि वह मूढ़ता को छोड़ कर लोक प्रचार के अनुसार न प्रवर्ते। बिचार और परीक्षा के साथही धर्म की वातों को माने।

(५) उपगूहन—सम्यक्दृष्टि को धर्म से प्रीति होती है इस कारण यदि किसी धर्मात्मा में अज्ञानता वा अशक्तता के कारण कोई दोष उत्पन्न होजावे और उसके दोष के कारण सत्य धर्म की निन्दा होती हो तो उस निन्दा को सम्यक्दृष्टि छिपाता है इसके अतिरिक्त सम्यक्दृष्टि किसी के दोष प्रगट करना पसन्द नहीं करता है वरण उसके दोषों को छिपा कर दोषी पुरुष में से दोष दूर करने की इच्छा करता है। और अपने शुद्ध स्वभावों की वृद्धि करने की भी कोशिश करता रहता है।

(६) स्थितिकरण—अपने परिणाम धर्म से भ्रष्ट होते होंतो आपको और जो दूसरे किसी मनुष्य के परिणाम भ्रष्ट होते हों तो उस मनुष्य को जिस प्रकार होसके धर्म में स्थित करना।

(७) वात्सल्य—साधर्मी जनों के साथ ऐसी प्रीति रखना जैसे गौ और उसके बच्चे में होती है।

(८) प्रभावना—सत्य धर्म के महात्म्य का प्रकाश करना। ऐसे कार्य करना जिस से संसार के सब जीवों पर धर्मका प्रभाव पड़े।

यह उपरोक्त आठ अंग सम्यक्दर्शन के हैं। इन अंगो के विना सम्यक्दर्शन पूरण कार्यकारी नहीं होता है।

सम्यक्दर्शन के २५ मल।

सम्यदर्शन सम्बन्धी २५ प्रकार के मल अर्थात् मैल होते हैं यदि यह मैल न हों तो सम्यक्दर्शन विशुद्ध अर्थात् निर्मल होता है और यदि मल हों तो मल सहित होता है। यह नहीं है कि २५ प्रकार के मल दूर होने पर ही सम्यक्दर्शन होसके। सम्यक्दर्शन मल सहित भी होता है परन्तु उतना कार्य कारी नहीं होता है जितना मल रहित होता है। चौथे गुणस्थान से लेकर चौधवें गुणस्थान तक सम्यक्दर्शन ही होता है। परन्तु किस किस गुणस्थान में सम्यक्दर्शन की कैसी कैसी विशुद्धता होती

है यह बात महान ग्रन्थों से ही मालूम होसक्ती है। यहां तो समुच्चयरूप कथन किया जाता है।

२५ मल इस प्रकार हैं ३ मूढ़ता ८ दोष ८ मद और ६ अनायतन।

मूढ़ता—बिना विचार लोक प्रवृत्ति के अनुसार रागी द्वेषी देवों को देवमान कर पूजना और उनसे अपने संसारीक कार्य की सिद्धि मानना देव मूढ़ता है। लोक में जिस प्रकार धर्म की प्रवृत्ति होरही है उस प्रकार बिना विचारे धर्म मानना जैसे गङ्गा स्नान करने से मुक्ति, ब्राह्मणों को भोजन खिलाने से मृतक पूर्वजों को सुख होना इत्यादिक अनेक मिथ्या प्रवृत्तियों के अनुसार प्रवर्तना लोक मूढ़ता है। मिथ्यादृष्टि देव, मिथ्या दृष्टि साधु और मिथ्या धर्म का सेवन, पूजन, विनय आदिक भय, वांछा और स्नेह आदिक से करना। धर्म मूढ़ता है—भावार्थ यह है कि बिना विचारे आंख मीच कर लोक प्रवृत्ति के अनुसार किसी भी बात को मानना वा उस रूप प्रवर्तना मूढ़ता है। सम्यक्दृष्टि को लोक प्रवृत्ति का कुछ भी आश्रय न लेना चाहिये सब काम विचार पूर्वकही करने चाहियें।

दोष—सम्यक्दर्शन के आठ अंग निशांकित आदिक जो ऊपर वर्णन किये गये हैं उनका न होना आठ प्रकार के दोष हैं।

मद—मान कषाय से उत्पन्न अहंकार के कारण घमंड (ग़रूर) करने को मद कहते हैं। मद आठ बातों का होता है। १ विज्ञान अर्थात् किसी कला वा हुनर जानने का मद २ ऐश्वर्य अर्थात् धन दौलत वा किसी संसारीक पदवी का मद ३ ज्ञान अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि वा अवधिज्ञान आदिक प्राप्तिका मद ४ तप का मद, ५ कुल का मद कि मेरा उच्च कुल है ६ जाति का मद कि मैं उत्तम जातिकाहूं ७ शरीर के बल कामद ८ रूप का मद कि मैं सुन्दर रूपवान हूं। सम्यक्दृष्टि को किसी प्रकार का मद नहीं करना चाहिये।

अनायतन—धर्म के आश्रय को आयतन कहते हैं। खोटे आश्रय को अनायतन कहते हैं। वह छ हैं। मिथ्या देव, मिथ्या देवों के सेवक, मिथ्या तप, मिथ्या तपस्वी, मिथ्या शास्त्र और मिथ्या शास्त्रों के धारक। इन सब अनायतन को त्यागना उचित है।

इस प्रकार सम्यक्दर्शन के २५ मल वर्णन किये गये।

७ प्रकार का भय।

सम्यक्दर्शन के आठ अङ्गों में निशाङ्कित अङ्ग का लक्षण सूक्ष्म दृष्टि से वर्णन

करने पर भयका त्याग भी इस अङ्ग में गर्भित होता है । क्योंकि जिस का तत्वों में पूर्ण श्रद्धान है और संसारिक सर्व प्रकार के दुःख सुख को कर्मों के उदय से जानता है और संसारीक सुख दुःख को अपने से पर समझता है तो उसको भयही किस बात का होवे । उसको भय तो तभी प्राप्त होसक्ता है जब उसके श्रद्धान में शङ्का दोष उत्पन्न हो। भय ७ प्रकार का है । इस लोक सम्बन्धी किसी बात का भय, परलोक अर्थात् अगले जन्म सम्बन्धी किसी बात का भय, मरण भय, वेदना भय, अनरक्षा भय, अर्थात् इस बात का भय कि मेरा कोई रक्षक नहीं है, व्याधि भय, अकस्मात् भय अर्थात् इस बात का भय कि नहीं मालूम किसी समय अचानक क्या हो जावै ।

सम्यक्त्व के ५ अतीचार ।

श्री उमास्वामी कृत तत्वार्थ सूत्र में सम्यक् दर्शन के पांच अतीचार वर्णन किये हैं। दोष लगने को अतीचार कहते हैं अर्थात् अतीचार सहित जो सम्यक् दर्शन होता है वह सम्यक् दर्शन तो है परन्तु निर्मल निर्दोष नहीं होता । वह अतीचार इस प्रकार हैं १ शङ्का, २ कांक्षा ३, विचिकित्सा ४ अन्यदृष्टि प्रशंसा अर्थात् मिथ्या दृष्टि के ज्ञान चारित्र की प्रशंसा करना अच्छा समझना । ५ अन्य दृष्टि संस्तव अर्थात् मिथ्या दृष्टि के गुणों का प्रकाश करना गुणानुवाद गाना ।

श्रुत केवली भगवान् को जो सम्यक् दर्शन होता है वह अवगाढ़ कहलाता है, गाढा अर्थात् दृढ़ श्रद्धान को अवगाढ़ कहते हैं और तेरवें गुणस्थानी श्री सर्वज्ञ भगवान् को जो सम्यक् दर्शन होता है वह परमावगाढ़ अर्थात् परम दृढ़ श्रद्धान कहाता है ।

चौथे गुणस्थानी सम्यक् दृष्टि का लक्षण यह है कि उसमें चार बात प्रगट हों प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ।

प्रशम—अर्थात् कषायों की मन्दता ।

संवेग—कर्मों से भयभीतता ।

अनुकम्पा—जीवों पर दया ।

आस्तिक्य—अर्थात् जीवात्मा को अनादि अनन्त और देह से पृथक मानना ।

संसयविमोह विब्भमविविज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु ॥४२॥

अर्थ—संशय, विमोह और विभ्रम रूप कुज्ञान से रहित आपा पर का अर्थात् आत्मा का और पर पदार्थ का स्वरूप जानना सम्यक् ज्ञान है वह आकार सहित अर्थात् सविकल्प है और उसके अनेक भेद हैं—

भावार्थ—संशय अर्थात् नहीं मालूम ऐसे है वा वैसे है, विमोह जिसको अन-ध्यवसाय भी कहते हैं, जैसे गमन करते हुए मनुष्य के पैर में किसी घास आदि का स्पर्श हो जावे और उस को यह मालूम नहीं होता है कि क्या लगा वा जैसे दिशा का भूल जाना होता है उसी प्रकार एक दूसरे की अपेक्षा के धारक जो द्रव्यार्थिक और पर्याया-र्थिकनय है उन के अनुसार द्रव्य गुण पर्याय का जो नहीं जानना है उसको विमोह कहते हैं। विभ्रम अर्थात् विपरीत जानना एकान्त पक्ष से जानना इन तीनों विधि जानने को ज्ञान नहीं कहते हैं ठीक २ जानने को ही ज्ञान कहते हैं वह ज्ञान यदि सम्यक् दर्शन सहित हो तो सम्यक् ज्ञान कहाता है।

सम्यक् ज्ञान के अनेक भेद हैं—

प्रमाण

सम्यक् ज्ञान जीव को पांच रीति से होता है मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्य्यय और केवल इन में अवधि मनः पर्य्यय और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं अर्थात् पदार्थ को स्पष्ट रूप से जानते हैं और मति, श्रुतिज्ञान प्रमाण तो हैं परन्तु साक्षात नहीं हैं दूसरे के सहारे से अस्पष्ट रूप जानते हैं इस कारण परोक्ष प्रमाण हैं। परन्तु व्यवहार में जो इन्द्रियों और मन के द्वारा ज्ञान होता है उस को प्रत्यक्ष कहते हैं इसलिये इन का नाम सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं। यथार्थ जानने को प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रीति से यथार्थ ज्ञान हो सक्ता है। परोक्ष ज्ञान ५ प्रकार से होता है स्मृति, प्रतिभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन ५ को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

स्मृत्ति—अर्थात् पहली जानी हुई बात को याद करना।

प्रत्यभिज्ञान—अर्थात् किसी वस्तु को देख कर यह विचार करना कि यह पहली देखी हुई वस्तु है या उसके समान है या वैसी नहीं है इत्यादिक जोड रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

तर्क—अर्थात् व्याप्ति का ज्ञान—दो वस्तुओं के एक साथ रहने के सम्बन्ध को वा आगे पीछे होने के सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं जैसे धूआं अग्नि से ही उत्पन्न होता है बिना अग्नि धूआं नहीं हो सक्ता। जैसे सूरज का धूप में प्रकाश और आताप एक साथ रहते हैं। जैसे वर्षाऋतु के पीछे सरद ऋतु और सरद ऋतु से पहले वर्षा ऋतु होता है, दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन होता है। इत्यादिक।

अनुमान—व्याप्ति के सहारे से एक वस्तु को देख कर दूसरी वस्तु को जान लेना अर्थात् हेतु से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं, जैसे धूम को देख कर अग्नि का अनुमान करना; पुत्र को देख कर उस के पिता माता का अनुमान करना। जिस वस्तु

को वादीप्रति वादी के सिद्ध करने की अभिलाषा है उस को साध्य कहते हैं । साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति हो अर्थात् जिस जानी हुई वस्तु के सहारे से साध्य का अनुमान किया जा सक्ता है उसको हेतु कहते हैं । हेतु के द्वारा साध्य के ज्ञान को ही अनुमान कहते हैं। धूम अग्नि से ही पैदा होता है इस कारण धूम को देख कर अग्नि का अनुमान होता है । इस में अग्नि साध्य है और धूम हेतु है ।

आगम—आप्त बचन को आगम कहते हैं और आगम के द्वारा जो ज्ञान होय उसको आगम प्रमाण कहते हैं । सर्वज्ञ, बीतराग और हितोपदेशक यह गुण जिस में हों वह आप्त हैं और उनके वचन प्रमाण होते हैं । ऐसे गुण वाले आप्त श्री तीर्थंकर भगवान् ही होते हैं जिनकी वाणी से जैन धर्म की प्रवृत्ति है ।

नय

वस्तु में अनेक धर्म अर्थात् स्वभाव होते हैं उनमें से किसी एक धर्म की मुख्यता लेकर वस्तु को जानना नय है । अथवा वक्ताने अनेकान्तात्मक वस्तु के जिस धर्म की अपेक्षा से शब्द कहा है उसके उसही अभिप्राय को जानने वाले ज्ञान को "नय" कहते हैं ।

नय के मूल भेद दो हैं । (१) पदार्थ जैसा है उसको वैसाही कहना निश्चयनय है इसको भूतार्थ नय कहते हैं (२) एक पदार्थ को पर वस्तु के निमित्त से व्यवहार साधन के अर्थ अन्यथा रूप कहना व्यवहार नय है इसको अभूतार्थ नय भी कहते हैं और इसका नाम उपनय भी है ।

निश्चयनय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्य्यायार्थिक । प्रत्येक वस्तु में सामान्य और विशेष गुण हुवा करते हैं । सामान्य वह गुण होते हैं जो अन्य वस्तु में भी हों और विशेष वह गुण होते हैं जो उसही वस्तु में हों, वस्तु के विशेष गुण को गौण करके सामान्य गुण की अपेक्षा से वस्तु को ग्रहण करना द्रव्यार्थिकनय है और सामान्य गुण को गौण करके विशेष गुण की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करना पर्य्यायार्थिकनय है।

द्रव्यार्थिकनय के तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार ।

नैगम—एक वस्तु में अनेक पर्याय अर्थात् अवस्था होती हैं और पर्याय पलटती रहती है । कोई पर्य्याय हो चुकी है कोई पर्य्याय अब है और कोई होने वाली है । अतीत अर्थात् जो कार्य पहले हो चुका उसमें वर्त्तमान कालका आरोपण करना भूत नैगम है । जैसे दीवाली के दिन यह कहना कि आज के दिन श्री महावीरस्वामी निर्वान को प्राप्त हुए, होने वाले कार्य का अतीत की तरह कथन करना भावी नैगम है जैसे

अर्हंतों को सिद्ध कहना और जहां कार्य का प्रारम्भ कर दिया गया हो परन्तु बिलकुल तैयार न हुआ हो उसको तय्यार हुआ कहना वर्त्तमान नैगम है जैसे कोई मनुष्य चूल्हे में आग जलाता हो अभी आटा भी नहीं गुंदा है परन्तु जो कोई पूछे कि क्या करते हो तो उसको यह कहना कि रोटी बनाता हूं। यह सब कथन नैगमनय के द्वारा सार्थिक हैं मिथ्या नहीं हैं।

संग्रह—संसार में अन्तानन्त वस्तु हैं सब को पृथक २ जानना और वर्णन करना बहुत कठिन है इस हेतु अनेक वस्तुओं की एक जाति नियत करली जाती है। जैसे काला, गोरा, लाल, बड़ा, छोटा, तेज़ चलने वाला, हलका चलने वाला, आदिक अनेक प्रकार के घोड़े होते हैं परन्तु उन सब की एक जाति "घोड़ा" नियत करली गई इस ही प्रकार अनेक प्रकार की गऊ की एक जाति, "गऊ" अनेक प्रकार के कुत्तों की एक जाति "कुत्ता" अनेक प्रकार के मनुष्यों की एक जाति "मनुष्य" अनेक प्रकार के वृक्षों की एक जाति "वृक्ष" अनेक प्रकार के मकानों की एक जाति "मकान" अनेक प्रकार के कपड़ों की एक जाति "कपड़ा" अनेक प्रकार के बर्तनों की एक जाति "बर्तन" नियत की गई। इसी प्रकार जब हम घोड़े वा गऊ वा मनुष्य, वा कुत्ते वा वृक्ष वा मकान वा कपड़े वा बर्तन का वर्णन करते हैं और उनके भेद करके किसी विशेप वस्तु का वर्णन नहीं करते हैं तो हमारा वर्णन संग्रह नय के अनुसार है। क्योंकि जब हम साधारण रूप मनुष्य मात्र का वर्णन करते हैं तो उसमें सबही प्रकार के मनुष्य आगये अर्थात् सब प्रकार के मनुष्यों का संग्रह करके वर्णन करते हैं।

मनुष्य, कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, वृक्ष, गऊ आदिक अनेक जातियों को संग्रह करके एक जीव जाति होती है और मकान, कपड़ा, बर्तन, घड़ा, पुस्तक आदिक अनेक जातियों को संग्रह कर के एक पुद्गल जाति होती है इस कारण जब हम जीव मात्र को वा पुद्गल मात्र को वर्णन करते हैं तब संग्रह नय को और भी अधिक काम में लाते हैं। फिर जीव, पुद्गल आदिक जाति को संग्रह कर के जगत की सर्व वस्तुओं को एक द्रव्य नाम कर कथन करते हैं और समुच्चय रूप द्रव्य को वर्णन कर के संग्रह नय को सब से ही अधिक काम में लाते हैं।

व्यवहार—संग्रह नय से ग्रहण किये हुए विपय को जो भेद रूप करती है उस को व्यवहार नय कहते हैं। जैसे द्रव्य के दो भेद जीव और अजीव कर के किसी एक भेद का कथन करना, जीव के चार भेद मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारकी कर के किसी एक का कथन करना, तिर्यंचों के भेद घोड़ा, बैल, कीड़ी, मकोड़ी वृक्ष आदिक करना—वृक्षों के भेद आम, नीबू, अनार, नारंगी, आलू, मूली आदिक करना—आम के भेद

मालदा, देसी-बम्बई आदिक करना-देसी आम के भेद संदूरया, मीठा, खट्टा आदिक करना इस ही प्रकार भेदाभेद करते जाना यह सब व्यवहार नय है।

पर्य्यायार्थिक नय के चार भेद हैं। ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत।

ऋजुसूत्र-प्रत्येक वस्तु की पर्य्याय समय २ पलटती रहती हैं परन्तु जो पर्य्याय बीत चुकी वा जो होने वाली है इन दोनों को छोड़ कर. वर्त्तमान पर्य्याय ही का कथन करना अर्थात् एक पर्य्याय को ग्रहण करना ऋजुसूत्र नय है।

शब्द-जो व्याकरण के अनुसार सिद्ध शब्दों को स्वीकार करता है और कालादिक के भेद से अर्थ का भेद मानता है वह शब्द नय है।

समभिरूढ़—किसी पदार्थ में एक मुख्य गुण को लेकर उस पदार्थ के अन्य क्रिया रूप प्रवर्तने के समय भी उस ही मुख्य गुण के अनुसार उस वस्तु को ग्रहण करना जैसे जो न्याय करे वह न्यायाधीश वा मुन्सिफ़ वा जज कहाता है परन्तु किसी न्यायधीश को जब वह सोता हो वा खाता हो अर्थात् न्याय करने का काम न करता हो न्यायाधीश ही कहना यह समभिरूढ़ नय के अनुसार हैं।

एवंभूत—समभिरूढ़ नय के विरुद्ध अर्थात् जिस काल में कोई वस्तु जो क्रिया करती हो उस ही के अनुसार ग्रहण करना जैसे जिस समय न्याय करता हो उस ही समय न्यायाधीश कहना दूसरे समय में न कहना यह एवंभूत नय का विषय है।

इस प्रकार निश्चय नय के सात भेदों का कथन किया-व्यवहार नय को उपचार और उपनय भी कहते हैं इस के तीन भेद हैं सद्भूत, असद्भूत और उपचरित।

सद्भूत— वस्तु और उस का गुण पृथक २ दो पदार्थ नहीं हैं इस ही प्रकार वस्तु और उस की पर्य्याय दो पदार्थ भिन्न २ नहीं हैं परन्तु गुण और गुणी में भेद करना वा पर्य्याय और पर्य्याइ में भेद करना अर्थात् इन को भिन्न २ कथन करना वा अखण्ड द्रव्य को बहुप्रदेश रूप कहना यह सद्भूत व्यवहार नय हैं।

असद्भूत—किसी एक वस्तु के धर्म को किसी दूसरी वस्तु में समारोप करना-यह समारोपण तीन प्रकार होता है (१) अपनी ही जाति वालेमें समारोपण करना जैसे चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को जो जल आदिक में हो जाता है चन्द्रमा कहना (२) बिजाति में बिजाति का समारोप जैसे मति ज्ञान को मूर्तीक कहना (३) सजाति बिजाति में सजाति और बिजाति दोनों को समारोपन करना जैसे जीव, अजीव स्वरूप ज्ञेय को ज्ञान का विषय होने से ज्ञान कहना।

उपचरित—इस नय को उपचरिता सद्भूत व्यवहार नय भी कहते हैं, प्रयोजन

और निमित्त के बश से इस नय की प्रवृत्ति होती है इस के भी तीन भेद हैं (१) अपनी ही जाति वाली वस्तु में उपचार करना जैसे मित्र, पुत्र आदिक जीवों को कहना कि यह मेरे हैं (२) विजाति वस्तु में उपचार करना जैसे महल, मकान, रुपया पैसा आदिक को अपना बताना (३) सजाति और विजाति दोनों प्रकार की वस्तु में उपचार करना जैसा यह कहना कि यह गाड़ी मेरी है जिस में गाड़ी अजीव है और बैल घोड़ा आदिक जो उस में जुते हुवे हैं जीव हैं दोनों को अपना बताया इसी प्रकार राज्य दुर्गादिक को अपने बताना ।

किसी २ ग्रन्थ में नय के निम्न प्रकार भी भेद कियेगये हैं।

निश्चय—जो वस्तु को अभेद रूप ग्रहण करै । इस के दो भेद हैं शुद्ध और अशुद्ध वस्तु को निरूपाधी रूप उसके शुद्ध गुण के अनुसार कथन करना, जैसे जीव को सर्वज्ञ और परमानन्द स्वरूप वर्णन करना शुद्ध निश्चय नय है और उपाधी सहित कथन करना जैसे जीव को इन्द्रिय जनित ज्ञान वाला वा सुखी दुखी बर्णन करना अशुद्ध निश्चयनय है ।

व्यवहार—जो वस्तु को भेद रूप ग्रहण करै इसके भी दो भेद हैं । सद्भूत और असद्भूत । गुण और गुणी को भिन्न २ ग्रहण करना सद्भूत व्यवहार नय है । इसके भी फिर दो भेद हैं । उपचरित और अनुपचरित । उपाधिक गुण गुणी को भेद रूप ग्रहण करना जैसे यह कहना कि जीव में मति ज्ञान आदिक गुण हैं, यह उपचरित सद्भूत नय है और निरूपाधिक गुण गुणी को भेद रूप कथन करना जैसे यह कहना कि जीव में केवल ज्ञान गुण है, यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है । भिन्न पदार्थों को अभेद रूप ग्रहण करना असद्भूत व्यवहार नय है इसके भी दो भेद हैं । उपचरित और अनुपचरित । जो अपने से बिल्कुल भिन्न पर वस्तु को अभेद रूप ग्रहण करै, जैसे यह रुपया पैसा मेरा है, वह उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है । जो ऐसी पर वस्तु को अभेद रूप ग्रहण करै जो मिल कर एक हो रही हों, जैसे यह शरीर मेरा है। वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है ।

वास्तव में नय के भेद बहुत हैं जितनी वस्तु हैं वा जितने शब्द हैं उतनीही नय हैं । नय का विशेष बर्णन महान ग्रन्थों से जानना चाहिये ।

वस्तु का ज्ञान प्रमाण और नय से ही होता है । इस कारण प्रमाण और नय का समझना अति आवश्यक है ।

निक्षेप

पदार्थों का लौकिक व्यवहार निक्षेप से होता है इनका भी जानना आवश्यक है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव यह चार निक्षेप हैं।

नाम—पहचान के वास्ते वस्तुओं का नाम रक्खा जाता है जैसे किसी मनुष्य का नाम शेरसिंह रक्खा जावे तो वह पहचान के वास्ते ही रक्खा जाता है चाहे वह बहुत कमज़ोर हो और शेर वा सिंह की कोई बात उसमें नहो। परन्तु शेरसिंह नाम से वही मनुष्य समझना चाहिये जिसका वह नाम रक्खा गया है। स्थापना—किसी एक वस्तु को दूसरी वस्तु स्थापन करना। यह दो प्रकार है एक तदाकार और दूसरी अतदाकार। समान आकार वाली वस्तु में स्थापना करना तदाकार है जैसे घोड़े का आकार अर्थात् मूर्ति बना कर उस मूर्ति को घोड़ा कहना इसही प्रकार किसी मनुष्य की मूर्ति बना कर उस मूर्ति को वह मनुष्य कहना जिसकी वह मूर्ति है। असमान आकार वाली वस्तु में किसी वस्तु की स्थापना करना अतदाकार स्थापना है जैसे किसी देश के नक़शे पर एक बिन्दी को यह कहना कि यह अमुक नगर है और दूसरी बिन्दी को यह कहना कि वह दूसरा अमुक नगर है।

द्रव्य—जिस वस्तु में कोई गुण आगामी प्रगट होगा वा कोई गुण था और अब नहीं है तौभी उसको उस गुण रूप कहना जैसे कोई पुरुष राजा होने वाला है उसको अभी से राजा कहना। कोई पहले दारोग़ा था और अब नहीं है परन्तु अब भी उसको दारोग़ा जी ही कहना।

भाव—वर्त्तमान समय में जो जैसा हो उसको वैसाही कहना। जैसे राज्य करते को राजा कहना।

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए॥४३॥

अर्थ—यह शुक्ल है, यह कृष्ण है, यह छोटा है, यह बड़ा है यह घट है, यह पट है इत्यादि रूप से पदार्थों को भिन्न २ न करके और विकल्प को न करके जो पदार्थों का सामान्य रूप ग्रहण करना है उसको परमागम में दर्शन कहा गया है।

भावार्थ—संसार में अनेक वस्तु हैं वह सब पृथक २ चिन्हों से पहचानी जाती हैं। जब तक इतना थोड़ा ज्ञान होता है कि कोई वस्तु है परन्तु यह ज्ञान नहीं होता

कि क्या वस्तु है अर्थात् जब तक अनेक वस्तुओं के पृथक २ चिन्हों में से किसी भी चिन्ह का ज्ञान नहीं होता है जिसके द्वारा भेद होसके कि अमुक वस्तु है वा अमुक प्रकार की वा अमुक जाति वा अमुक चिन्ह की वस्तु है तब तक उस तुच्छ ज्ञान को दर्शन कहते हैं, उस तुच्छ सत्ता मात्र सामान्य बोध का नाम ज्ञान नहीं होता है, फिर जब कुछ भी किसी प्रकार के चिन्ह का ज्ञान हो जाता है जैसे जब इतना भी ज्ञान होजाता है कि वह वस्तु काली है वा धौली है तब ही से वह जानना ज्ञान कहलाने लगता है। यद्यपि इतनाही बोध होने से कि कुछ है और काला है वा धौला है इतना जानने से इस बात का बोध नहीं हुवा कि वह क्या वस्तु है क्योंकि काली भी अनेक वस्तु होती हैं और धौली भी अनेक होती हैं परन्तु तौ भी इतने ही बोध को भी ज्ञान कहते हैं और इस से कमती बोध को जिस में यह भी मालूम नहीं हुवा कि वस्तु काली है वा धौली है वा कैसी है अभी इतनाही जाना है कि कोई वस्तु है यह मालूम नहीं कि वह कैसी है उसको दर्शन कहते हैं।

पाठकों को जानना चाहिये कि जैन शास्त्रों में दर्शन शब्द दो अर्थों में आया है। दर्शन के एक अर्थ श्रद्धान के हैं और दूसरे अर्थ उस तुच्छ बोध के हैं जिसमें इतनाही जान पना हुवा है कि कोई वस्तु है। जहां शास्त्रों में रत्नत्रय का वर्णन है अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र का कथन है अथवा मिथ्या दर्शन वा सम्यक् दर्शन का कथन है वहां दर्शन का अर्थ श्रद्धान है और जहां उपयोग (ज्ञान) के भेदों का वर्णन है वहां सब से कमती ज्ञान अर्थात् सत्तामात्र के ज्ञान को दर्शन कहा है। मिथ्या दर्शन तो दर्शन मोहनी कर्म के उदय से और सम्यक् दर्शन दर्शन मोहनी कर्म के नष्ट होने वा उदय न होने से उत्पन्न होता है और जिस कमती ज्ञान को दर्शन कहते हैं वह दर्शनावरणी कर्म के नष्ट होने वा उदय न होने से होता है।

दंसण पुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगवं ज़ह्मा केवलि-णाहे जुगवं तु ते दोवि ॥४४॥

अर्थ—छद्मस्थ जीवों के ज्ञान के पूर्व दर्शन होता है क्योंकि उनके ज्ञान और दर्शन यह दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते। और केवली भगवान के यह दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।

भावार्थ—जो जीव सर्वज्ञ नहीं है उसको पहले दर्शन होता है पीछे ज्ञान होता है अर्थात् पहले समय में वस्तु का इतनाही ज्ञान होता है कि कुछ है इसको दर्शन कहते हैं फिर दूसरे समय में यह मालूम होता है कि किस प्रकार की है अर्थात् काली है धौली

है या किस प्रकार की है फिर आहिस्ता २ यह ज्ञान होजाता है कि अमुक वस्तु है। एक समय काल का सब से छोटा भाग होता है जो हमारी तमीज़ में आना कठिन है इस कारण हमको यह मालूम नहीं होता है कि प्रत्येक वस्तु जो हम देखते हैं उसको इसही क्रम से जानते हैं, हम तो यहही समझते हैं कि दृष्टि पड़तेही हम वस्तु को जानलेते हैं परन्तु ऐसा नहीं है। हमको पहले दर्शन होता है और फिर ज्ञान होता है।

केवली भगवान अर्थात् सर्वज्ञ को क्रम रूप ज्ञान नहीं होता है। उनको एक साथ ही सब कुछ बोध होता है। यहां तक कि भूत भविष्यत और वर्त्तमान तीनों काल का ज्ञान एक साथ होता है। इसलिये उनको दर्शन और ज्ञान दोनों उपयोग युगपत एक साथ ही होते हैं उनमें परस्पर समय भेद नहीं है।

असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद समिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियम्॥४५॥

अर्थ—जो अशुभ कार्य से बचना और शुभ कार्य में लगना है उसको चारित्र जानना चाहिये। श्री जिनेंद्र भगवान् ने व्यवहार नय से उस चारित्र को व्रत, समिति और गुप्ति स्वरूप कहा है।

भावार्थ—अपनेही शुद्ध आतम भावों में रमण करना निश्चय चारित्र है और इस अवस्था को प्राप्त होने का जो कारण है वह व्यवहार चारित्र है। वह व्यवहार चारित्र क्या है अशुभ अर्थात् खोटे कार्यों का न करना और अच्छे कार्यों का करना। वह अच्छे कार्य जिन से निश्चय चारित्र की सिद्धि होती है व्रत, समिति और गुप्ति हैं।

व्रत पांच प्रकार है अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, समिति भी पांच प्रकार है। और गुप्ति तीन प्रकार है, इन सब के सरूप का वर्णन सम्वर के कथन में हो चुका है। इस प्रकार चारित्र १३ प्रकार है।

सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान एक साथ होते हैं परन्तु यह नियम नहीं है कि चारित्र भी इनके साथ अवश्यही हो ऐसा भी होता है कि सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान होने पर सम्यक् चारित्र बिल्कुल भी न हो। ऐसी अवस्था वाले को अविरति सम्यक् दृष्टि कहते हैं। चौथे गुणस्थान वाले की यहही अवस्था होती है कि सम्यक्त तो होगया है परन्तु चारित्र कुछ भी ग्रहण नहीं किया है। जो जीव सम्यक् दर्शन की प्राप्ति के पश्चात कुछ चारित्र ग्रहण करता है परन्तु पूरे रूप से चारित्र को नहीं पालता है वह अणु व्रती, देश व्रती वा श्रावक कहलाता है यह अवस्था पञ्चम गुण स्थान वाले की

होती है। और जो जीव सम्यक् दृष्टि होकर सकल चारित्र को पालता है वह महा व्रती वा साधु वा मुनि कहलाता है और छोटे वा उससे भी ऊपर के गुण स्थान वाला होता है।

यह पांच व्रत मुनि अवस्था में महा व्रत कहाते हैं और श्रावक अवस्था में अणु व्रत। मुनि के आचार का कथन विस्तार रूप बहुत कुछ है जो भगवती आराधना सार और मूलाचार आदिक ग्रन्थों से मालूम होसक्ता है परन्तु मोटे रूप कथन में पञ्च महा व्रतों का ही कथन है। समिति और गुप्ति को इनही में गर्भित किया है।

५ महाव्रत की भावना।

बार बार चिंतवन करने को भावना कहते हैं। पञ्च महाव्रतों के स्थिर रखने के वास्ते प्रत्येक व्रत के अर्थ पांच २ भावना हैं जिनका चिंतवन मुनि को बराबर रखना चाहिये।

अहिंसा व्रत की भावना—१ वचन गुप्ति अर्थात् बचन को अपने वश में रखने का चिंतवन रखना कि कभी ऐसा वचन मुख से न निकले जिस से प्राणी को पीड़ा हो २ मनो गुप्ति अर्थात् मनको अपने वश में रखने का चिंतवन रखना कि कभी हिंसा रूप विचार मन में न आवे ३ इर्यासमिति अर्थात् इस बात का विचार रखना कि गमन करते समय किसी जीव की हिंसा न हो जावे ४ अदान निक्षेपण अर्थात् इस बात का विचार रखना कि किसी वस्तु के उठाते वा रखते समय किसी जीव की हिंसा न होजावे ५ आलोकित पान भोजन अर्थात् इस बात का विचार रखना कि भोजन पान आदिक भले प्रकार देख शोध कर किया जावे जिससे किसी जीव की हिंसा न हो।

सत्यव्रत की भावना—१ इस बात का विचार रखना कि क्रोध न आवे, २ लोभ न उपजे, ३ भय उत्पन्न न हो क्योंकि इन तीनों अवस्था में असत्य वचन मुख से निकल जाता है ४ यह विचार रखना कि हास्य रूप वचन मुख से न निकले क्योंकि हास्य में भी असत्य बचन बोला जाता है और ५ आगम के अनुसार पाप रहित वचन बोलने का विचार रखना।

अचौर्य व्रत की भावना—१ इस बात का विचार रखना कि ऐसे घर में न रहैं जहां कोई असबाब हो शून्य घर होना चाहिये जिससे किसी वस्तु के ग्रहण करने की प्रेरणा न हो २ ऐसे स्थान में रहना जो छोड़ा हुवा हो जिससे किसी के ग्रहण किये हुवे स्थान के ग्रहण करने का दोष न आवे ३ जो कोई जीव उस स्थान में ठहरे जहां अपना वास हो तो उसको ठहरने से नहीं रोकना क्योंकि रोकने से उस स्थान को

अपनी मिलकियत बनाने का दोष आता है ४ इस बात का भी विचार रहैं कि भिक्षा की विधि में न्यूनधिकता न हो क्योंकि इस से भी पर वस्तु ग्रहण करने का दोष लगता है और ५ इस बात का भी विचार रहना चाहिये कि धर्मात्माओं से किसी प्रकार का झगड़ा न हो।

ब्रह्मचर्य व्रत की भावना—१ ऐसी बातों का बचाव रखना चाहिये जिन से काम उत्पन्न होता हो। अर्थात् स्त्रियों में राग उत्पन्न करने वाली कथा के सुनने का त्याग, २ स्त्रियों के मनोहर अङ्गों के देखने का त्याग, ३ पूर्व किये हुवे विषय भोगों के याद करने का त्याग, ४ कामोद्दीपन वस्तु खाने का त्याग और ५ अपने शरीर को शृंगार रूप करने का त्याग।

परिग्रह व्रत की भावना—इस बात का विचार रखना कि पांचो इन्द्रियां किसी इष्ट अनिष्ट वस्तु में रागद्वेष रूप न प्रवर्तें।

इस प्रकार प्रत्येक व्रत की पांच २ भावना हैं जिन से व्रत में सावधानी रहती है। इन के अतिरिक्त मुनिको यह भी चिंतवन करते रहना चाहिये कि हिंसा आदिक से अर्थात् व्रत के न होने से इस लोक और परलोक में सांसारिक और पारमार्थिक प्रयोजनों का नाश होता है और निन्दा भी होती है। और पाप उत्पन्न होता है जिस से दुःख मिलता है।

मुनि को उचित है कि संसार से भय भीत रहने और वैराग्य स्थिर रखने के वास्ते जगत और काय के स्वभाव को भी चिंतवन करते रहैं।

चार भावना।

इसके अतिरिक्त मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ यह चार भावना भी मुनि को निरन्तर चिंतवन करनी चाहियें।

मैत्री—सर्वसाधारण जीवों से मित्रता रखना सब का भला चिंतवन करना।

प्रमोद—जो गुणों में अधिक हों उन में प्रसन्नता का भाव रखना।

कारुण्य—दुःखी जीवों पर करुणा बुद्धि रखना और उनके दुःख दूर करने का परिणाम रखना।

माध्यस्थ—पापी अविनयी और क्रूर जीवों में मध्यस्थ भाव रखना अर्थात् न प्रीति और न द्वेष।

तीन शल्य।

यह पांच व्रत उसके पलते हैं जिस में शल्य नहीं होता है। माया, मिथ्या और निदान यह तीन शल्य हैं। मन वचन काय की क्रिया का एक समान न होना अर्थात्

मन में कुछ और वचन में कुछ और काय की क्रिया कुछ अर्थात् कपट को माया कहते हैं। तत्वार्थ श्रद्धान का न होना मिथ्या शल्य है। आगामी के वास्ते संसार के किसी प्रकार के सुख की वांछा रखना निदान शल्य है।

इस प्रकार मोटे रूप मुनि चारित्र का वर्णन किया।

श्रावक धर्म।

पंचम गुण स्थानी श्रावक के ११ भेद हैं जिनको ग्यारह प्रतिमा कहते हैं परन्तु श्रावक धर्म के ११ भेद न करके समुच्चय रूप इनके चारित्र का इस प्रकार कथन है।

अहिंसा आदि पांच व्रतों का अणु रूप अर्थात् कमती एक देश पालना श्रावक का चारित्र है। वह अणु व्रत इस प्रकार हैं।

अहिंसा—स्थावर जीवों की हिंसा का त्यागी न होकर त्रस जीवों की हिंसा का त्याग।

सत्य—स्नेह बैर और मोह आदि के वश झूठ बोलने का त्याग।

अचौर्य—पराई वस्तु के इस प्रकार ग्रहण का त्याग जो राज्य आज्ञा के विरुद्ध हो वा जिस से किसी जीव को पीड़ा होती हो।

ब्रह्मचर्य—अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त अन्य सब स्त्रियों से काम भाव का त्याग।

अपरिग्रह—संसारीक वस्तुओं का परिमाण करना कि इतनी से अधिक नहीं रक्खेंगे। इसही कारण इसको परिग्रह परिमाण व्रत भी कहते हैं।

इन पांचो व्रतों के पृथक २ पांच २ अतीचार वर्णन किये गये हैं। यद्यपि अतीचार के होते हुवे भी व्रत होता है परन्तु निर्दोष नहीं होता है। अतीचारों के टालने से व्रत निर्दोष होजाता है।

अहिंसा अनुव्रत के अतीचार—१ पशु आदिक जीव का बांधना वा पिंजरे में बन्द करना २ वंध अर्थात् लाठी चाबुक आदि से जीव को मारना ३ छेदन अर्थात् जीव का कान आदिक काटना वा बींधना ४ अतिभारारोपण अर्थात् किसी जीव पर अधिक बोझ लादना ५ अन्नपान निरोध अर्थात् किसी जीव को भूखा प्यासा रखना।

सत्य अणुव्रत के अतीचार—१ मिथ्या उपदेश अर्थात् जीव के अहित का उपदेश देना २ रहोभ्याख्यान अर्थात् स्त्री पुरुष की गुप्त वार्त्ता वा गुप्त आचरण को प्रगट करना ३ कूट लेख क्रिया अर्थात् झूठी बात लिखना जालसाज़ी करना ४ न्यासापहार अर्थात् धरोहर के सम्बन्ध में कोई असली बात भूल कर अपने विरुद्ध कहने लगे

तों असली बात प्रगट न करना और चुप होकर उसकी भूली हुई बात के अनुसार व्यवहार करना जैसे किसी ने ५००) धरोहर रक्खे परन्तु बहुत दिन पीछे जब लेने आया तब उसको यह ही याद रहा कि मैंने ४००) रक्खे थे सो चारसौ ही मांगने लगा। जिस के पास रक्खे थे उसको मालूम है कि ५००) रख गया था परन्तु उसके ४००) मांगनें पर चार सौ ही देदेना और उसकी भूल प्रगट न करना यह न्यासापहार नाम झूठ का अतिचार है ५ साकार मंत्र भेद अर्थात् किसी की चेष्टा से उसके मन की गुप्तबात जान कर प्रगट कर देना।

अचौर्य अणुव्रत के अतीचार—१ स्तेन प्रयोग अर्थात् चोरी करने की विधि बताना २ चौरार्थदान अर्थात् चोरी की वस्तु लेना ३ विरुद्ध राज्याति क्रम अर्थात् राज्य आज्ञा के विरुद्ध क्रिया करना ४ हीनाधिक मानोनमान अर्थात् मापने तोलने आदिक के बाट आदिक कमती बढ़ती रखना ५ प्रति रूपकव्यवहार। अर्थात् बहु मूल्य की वस्तु में घटिया वस्तु मिलाकर बढ़िया वस्तु में चलाना जैसे दूध में पानी मिला कर असली के तौर पर बेचना।

ब्रह्मचर्य्य व्रत के अतीचार—१ पर विवाह करण अर्थात् दूसरे के बेटा बेटी का विवाह करना वा करादेना २ परिग्रहीतत्वरिका गमन अर्थात् दूसरे की विवाहिता व्यभिचारणी स्त्री के पास जाना आना और उस से व्यवहार रखना ३ अपरिग्रहीतेत्वरि का गमन अर्थात् बिना पतिवाली भावार्थ गणिका स्त्री के पास जाना आना उससे वार्तालाप वा किसी प्रकार का व्यवहार रखना। ४ अनंग क्रीड़ा अर्थात काम सेवन के अंगों को छोड़ कर अन्य अंगों से काम क्रीड़ा करना ५ कामतीव्राभिनिवेश अर्थात् काम सेवन में अत्यंत अभिलाषा रखना चाहे अपनी ही स्त्री के साथ हो।

परिग्रह परिमाण अनुव्रत के अतीचार १ खेत और मकान आदिक २ रुपया पैसा सोना चांदी आदिक ३ गौ बैल और अनाज आदिक ४ नौकर चाकर चाहे वह स्त्री हो वा पुरुष ५ वस्त्र और वर्तन आदिक, इन पांच प्रकार की वस्तु में परिमाण का उलंघन करना।

पांच अनुव्रत धारण करने के पश्चात उन व्रतों को बढ़ाने अर्थात् चारित्र में उन्नति करने के वास्ते तीन गुण व्रत हैं दिग्विरति, देशविरति और अनर्थ दंडविरति इनका सरूप इस प्रकार है:—

दिग्विरति—लोभ आरंभादिक को कम करने के अभिप्राय से यावज्जीव इस बात का नियम करना कि अमुक प्रसिद्ध नदी वा ग्राम वा पर्वतादि से बाहर नहीं

जाऊंगा इस व्रत का अभिप्राय यह है कि बांधा हुई सीमा से बाहर की भी क्रिया करने का विचार न हो —

देशविरति—कुछ नियमित समय के वास्ते इस बात का नियम करना कि दिग्विरति में जो क्षेत्र नियंत किया है उसके अंदर भी अमुक नगर ग्राम वा मुहल्ले तक जाऊंगा इस से बाहर नहीं जाऊंगा।

अनर्थ दंडविरति—ऐसे पाप के कार्यों का त्याग करना जिससे अपना कोई अर्थ सिद्ध न होता हो ऐसे व्यर्थ पाप पांच प्रकार के हैं १ पापो पदेश २ हिंसादान ३ अपध्यान ४ दुःश्रुति और ५ प्रमादचर्या, ऐसे संसारीक कार्य के करने का उपदेश देना जिस में स्थावर वा त्रस जीवों की हिंसा होती हो और अपना कोई कार्य सिद्ध न होता हो वह पापोदेश है। हिंसा के औज़ार फावड़ा, कुदाल, शांकल, चाबुक, पींजरा, चूहेदान आदिक दूसरे को देना हिंसादान है यदि इस प्रकार की वस्तु अपने किसी कार्य के वासते रखना आवश्यक होतो रखो परन्तु दूसरे को दान करना तो व्यर्थ ही पाप कमाना है। अन्य जीवों के दोष ग्रहण करने के भाव, अन्य का धन ग्रहण करने की इच्छा, अन्य की स्त्री देखने की इच्छा, मनुष्य वा तिर्यंचोंकी लड़ाई देखने के भाव, अन्य की स्त्रीं पुत्र धन आजीविका आदिक नष्ट होने की चाह, पर का अपमान अपवाद होने की चाह आदिक अपध्यान हैं इन से कोई कार्य तो सिद्ध होता नहीं व्यर्थ का पाप बंधता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध आदिक उत्पन्न करने वाला पुस्तक पढ़ना किस्सा सुन्ना दुःख श्रुति है। बिना प्रयोजन जल खिंडाना, अग्नि जलाना, बनस्पति छेदना, भूमि खोदना और इसही प्रकार का अन्य कोई कार्य करना जिसमें हिंसा होती हो वा बिना सावधानी के व्यर्थ इस प्रकार प्रवर्तना जिससे जीव हिंसा हो प्रमाद चर्या है।

इन तीनों गुण व्रतों के भी पांच २ अतीचार वर्णन किये गये हैं। वह इस प्रकार हैं।

दिग्विरीत के अतीचार। १ अर्द्धातिक्रम अर्थात् ऊंचाई पर जाने की जितनी मर्यादा बांधी हो उससे अधिक ऊपर वृक्ष पर्वतादिक पर चढ़ना। अधोऽतिक्रम अर्थात् नीचाई का जितना परिमाण किया हो उससे अधिक नीचा कूपादिक में जाना। तिर्यगतिक्रम अर्थात् टेढ़ा जाकर मर्यादा से बाहर चले जाना। क्षेत्रवृद्धि अर्थात् परिमाणित क्षेत्र को बढ़ाना। स्मृत्यंतराधान अर्थात् दिशाओं की बांधी हुई मर्यादा को भूल जाना।

देशव्रत के अतीचार १ मर्यादा के बाहर से किसी चेतन वा अचेतन वस्तु को मंगाना वा बुलाना, २ मर्यादा से बाहर आपतो जाना नहीं परन्तु अपने किसी सेवकादि को भेजना ३ मर्यादा से बाहर होने में शब्द पहुंचाना अर्थात् खांसी, खंखारने

का शब्द करके वा टेलीफोन के द्वारा अपना अभिप्राय समझा देना ४ मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में हाथ पैर आदिक का कोई इशारा करके काम कराना ५ कंकरी आदिक फेंकने से मर्यादा के बाहर क्षेत्र में इशारा पहुंचाना।

अनर्थदण्डत्याग व्रत के अतीचार-१हास्य को लिये हुए भण्ड वचन बोलना २ काय से भंड क्रिया करना ३ व्यर्थ बकवाद करना ४ प्रयोजन को विना विचारे अधिकता से प्रवर्तन करना ५ ज़रूरत से ज्यादा भोग उपभोग की सामिग्री इकट्ठा करना।

गुण व्रतों के द्वारा अणु व्रतों को बढ़ा कर शिक्षा व्रत ग्रहण करने चाहियें। जिससे चारित्र में अधिक उन्नति हो। जिन व्रतों से मुनि धर्म की शिक्षा प्राप्त होती है अर्थात् अभ्यास होता है उन को शिक्षा व्रत कहते हैं। शिक्षा व्रत चार हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण, और अतिथि संविभाग। इनका स्वरूप इस प्रकार है:—

समायिक—समस्त पाप क्रियाओं से रहित होकर सब से रागद्वेष छोड़ साम्य भाव को प्राप्त हो कर आत्मस्वरूप में लीन होना।

प्रोपधोपवास—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को पहले दिन के दोपहर से लगा अगले अर्थात् पारने के दिन के दोपहर तक अर्थात् १६ पहर समस्त आरम्भ छोड़ कर विषय कषाय और समस्त प्रकार के आहार को त्याग कर धर्म सेवन में व्यतीत करना

उप भोग परिभोग विरति—उप भोग और परिभोग की वस्तुओं की मर्यादा करके बाक़ी सब का त्याग करना। जो एक बार भोगने में आवें वह भोग और जो बार बार भोगने में आवे वह परि भोग है।

अतिथिसं विभाग—महा व्रती मुनि वा अणु व्रती श्रावक के अर्थ शुद्ध मन से आहार दान करना।

इन चार शिक्षा व्रतों के भी पांच २ अती चार वर्णन किये गये हैं जो इस प्रकार हैं।

सामायिक के अतीचार—१ मन को वा २ वचन को वा ३ काया को अन्यथा चलायमान होने देना ४ उत्साह रहित अनादर से सामायिक करना और ५ सामायिक करते हुए चित्त की चंचलता से पाठ भूल जाना।

प्रोपधोपवास के अतीचार—१ विना देखी विना शोधी भूमि पर मल मूत्र कफ आदिक डालना २ विना देखे विना शोधे उपकरण का उठाना वा रखना ३ विना देखी विना शोधी भूमि पर सांथरा आदिक बिछाना ४ धर्म क्रिया में उत्साह रहित प्रवर्तना ५ आवश्यकीय धर्म क्रियाओं को भूल जाना।

उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के अतीचार—१ सचित अर्थात् ऐसे फलादिक का आहार करना जिस में जीव हो २ सचित वस्तु से स्पर्श की हुई वस्तु का आहार करना ३ पदार्थ से सचित मिली हुई वस्तु का आहार करना ४ पुष्टि कारक वस्तु का आहार करना ५ भले प्रकार न पकी हुई तथा देर से हज़म होने वाली वस्तु का आहार करना।

अतिथि सम्बि भाग व्रत के अतीचार—१ सचित्त वस्तु में अर्थात् हरे कमलपत्र आदि में रख कर आहार देना २ सचित्त से ढके हुए आहार औषधि का देना ३ दूसरे की वस्तु का दान करना ४ अनादर से वाईर्षा भाव से दान देना ५ योग्य समय को टाल कर आहार देना।

तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत यह सात शील कहलाते हैं अर्थात् अणु व्रत की रक्षा वा वृद्धि करने वाले हैं।

श्रावक को इन १२ व्रतों के अतिरिक्त छै कर्म प्रति दिन करते रहना चाहिये जो षट् आवश्यक् कर्म कहलाते हैं पूजा, उपासना, दान, स्वाध्याय, तप और संयम।

पूजा— भक्ति करने आदर और बड़ाई मानने को पूजा कहते हैं। अपने में वैराग्य भाव उत्पन्न करने के वास्ते वीतरागियों और उन कारणों की जिन से वीतरागता प्राप्त होती है भक्ति करना।

उपासना—निकट जाने पास बैठने को उपासना कहते हैं। साधु और धर्मात्मा पुरुषों के पास जाना और पास जाना न हो तो उसके गुणों का चिंतवन करना।

दान--देने का नाम दान नहीं है। किसी भय से वा लोकाचार से वा अपने किसी संसारिक प्रयोजन के अर्थ देना दान नहीं है। दान वह है जो करुणा उत्पन्न होने पर किसी के दुख दूर करने को वा ज्ञान और धर्म की वृद्धि के अर्थ दिया जावै जिससे अपने को भी पुन्य बन्ध हो और दूसरे का भी हित सधता हो।

स्वाध्याय—श्री जैन शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना चर्चा वार्ता करना।

तप—इन्द्रियों को वश करने और कषायों को मन्द करने के अर्थ किसी प्रकार का कष्ट उठाना तप है।

संयम—पापों से बचने के वास्ते अपनी क्रियाओं का प्रबन्ध करना अर्थात् नियम बांधना संयम है।

श्रावक का यह भी धर्म है कि जब मृत्यु का निश्चय होजावै तो धर्म ध्यान के साथ प्राणों को त्याग करै। इसको सन्यास मरण वा समाधि मरण वा सल्लेखना कहते हैं। आहिस्ता २ सब प्रकार की क्रिया और चिन्ता और खाना पीना आदिक को छोड़

कर आत्म ध्यान में लग जाना इस का उपाय है।

सन्यासमरण के भी पांच अतीचार वर्णन किये गये हैं १ जीने की इच्छा करना २ शीघ्र मरने की इच्छा करना ३ अपने मित्रों में अनुराग रखना और उन को याद करना ४ पूर्व भोगों को चिंतवन करना ५ आगामी के भोगों की वांछा रखना।

इस प्रकार समुच्चय रूप श्रावक धर्म का वर्णन किया गया। अब इसके भेदों का वर्णन करते हैं।

हम पहले लिख आये हैं कि चौथे गुणस्थानी सम्यक् दृष्टि में चारित्र बिल्कुल नहीं होता है एक तो श्रावक का यह दर्जा है इस में भी यद्यपि कोई चारित्र नहीं है परन्तु मांस का भोजन तो इस दर्जे वाला भी नहीं करता है और मदिरा, शहद, और बड़, पीपल, पीलू आदिक पांच उदम्बर फल जिन में साक्षात त्रस जीवों का घात होता है और त्रस जीव दिखाई देते हैं नहीं खाता है। अर्थात् उपर्युक्त आठ चीजों का त्यागी होता है इसी का नाम श्रावक के आठ मूल गुण हैं बिना इन आठ वस्तु के त्याग के जैनी अर्थात् पाक्षिक श्रावक ही नहीं कहला सक्ता है।

पंचम गुणस्थानी श्रावक जिसको देश व्रती कहते हैं उसके ११ दर्जे हैं जो ११ प्रतिमा कहाती हैं। उन्नति करते हुवे एक से दूसरी और दूसरी से तीसरी आदिक ग्यारह प्रतिमा तक चढ़ना होता है और इन से भी ऊपर चढ़कर साधु होता है। अगली २ प्रतिमाओं में पूर्व २ की प्रतिमाओं की क्रिया का होना भी जरूरी है।

१ दर्शनप्रतिमा—सम्यगदर्शन सहित मद्यमांसादिक त्याग रूप अष्ट मूल गुण का निरतिचार पालने वाला दर्शनिक अर्थात् १ ली प्रतिमा का धारी कहलाता है। इस प्रतिमा में जूवा खेलना, मांस भक्षण करना, शराब पीना, वेश्यागमन, शिकारखेलना, चोरीकरना और पर स्त्री सेवन करना इन सात कुव्यसनों का भी त्याग होता है।

२ व्रतप्रतिमा—१२ व्रत का धरना। अर्थात् जब दर्शनिक १२ व्रत का पालन करता है तब वह व्रतिक कहलाता है।

३ सामायिक प्रतिमा—व्रतिक का प्रभात काल, मध्याह्नकाल और अपराह्न-काल अर्थात् सुबह दोपहर और शाम को छै छै घड़ी विधि पूर्वक सामायिक करना।

४ प्रोषधप्रतिमा—महीने के चारों पर्वदिनों में अर्थात् प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी को १६ पहर का उपवास करना।

५ सचित त्याग प्रतिमा—हरी वनस्पति अर्थात् कच्चे फल फूल बीज आदिक न खाना।

६ रात्रिभोजन त्यागप्रतिमा--रात्रि को सर्व प्रकार के आहार का त्यागना।

७ ब्रह्मचर्यप्रतिमा—अपनी पराई किसी भी प्रकार की स्त्री से भोग न करना।

८ आरम्भ विरतिप्रतिमा—गृहकार्य सम्बन्धी सर्व प्रकार की क्रिया का त्याग करना और दूसरों से भी आरम्भ नहीं कराना।

९ परिग्रहत्याग प्रतिमा—दस प्रकार के बाह्य परिग्रह से, ममता को त्याग कर सन्तोष धारण करना।

१० अनुमोदन विरतिप्रतिमा—अन्य गृहस्थों के संसारीक कार्यों की अनुमोदना भी न करना जो कोई भोजन को बुलावे उसके यहां भोजन करआवे परन्तु यह न कहै कि मेरे वास्ते अमुक वस्तु बनावो।

११ उद्दिष्टविरति प्रतिमा—घर छोड़ वन तथा मठ आदिक में तपश्चरण करते हुए रहना, भिक्षा भोजन करना और खण्ड वस्त्र धारण करना। इस प्रतिमा धारी के दो भेद हैं १ क्षुल्लक और २ ऐल्लक। १ पहले दर्जे वाले अर्थात क्षुल्लक अपनी डाढ़ी आदि के केश उस्तरे वा कैंची से कटवाते हैं, लंगोटी और उस के साथ चादर वा दुपट्टा धारण करते हैं, तथा बैठ कर अपने हाथ में वा किसी पात्र में भोजन करते हैं। और इस से ऊंचे दर्जे वाले अर्थात् ऐल्लक केशों का लोच करते हैं और केवल लंगोटी धारण करते हैं तथा मुनि की सदृश हाथ में पिच्छिका रखते हैं और अपने हाथ में ही भोजन करते हैं किसी बरतन में नहीं करते।

इस प्रकार पंचम गुणस्थानी श्रावक के ११ दर्जे हैं और चौथे गुणस्थानी सम्यक्ती को मिलाकर १२ दर्जे होते हैं।

इनका विस्तार वर्णन श्रावकाचार ग्रन्थों से जानना—

बहिरब्भतरकिरियारोहो भवकारणपणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥४६॥

अर्थ—ज्ञानी जीव के संसार के कारणों को नष्ट करने के वास्ते जो अन्तरङ्ग और बाह्य क्रियाओं का निरोध करना है वह श्रीजिनेन्द्र ने उत्कृष्ट सम्यक् चारित्र कहा है।

भावार्थ—पूर्वगाथा में जो चारित्र वर्णन किया गया है वह व्यवहार चारित्र है अर्थात् असली चारित्र का कारण है वास्तविक चारित्र समस्त क्रियाओं को रोक कर अपनी आत्मा में ही मग्न हो जाना है। इसही चारित्र से संसार पर्याय नष्ट होती है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। ज्ञानी जनों को इसही चारित्र की प्राप्ति की कोशिश करनी चाहिये।

दुविहं पि मुखहेउं ज्झाणे पाऊणादि जं मुणी णियमा ।
तह्मा पयत्तचित्ता जूयं ज्झाणं समब्भसह ॥४७॥

अर्थ—ध्यान के करने से ही मुनि नियम से निश्चय और व्यवहार रूप मोक्षमार्ग को प्राप्त होता है इस हेतु हे भव्य जीवों तुम चित्त को एकाग्र करके ध्यान का अभ्यास करो ।

भावार्थ—ध्यान से ही मोक्षमार्ग की सिद्ध है । चित्त को एकाग्र करना अर्थात् एक तरफ लगाना ध्यान है । ध्यान का अभ्यास मोक्ष अभिलाषी को अवश्य करना चाहिये ।

मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठानिट्ठअट्ठेसु ।
थिरमिच्छहि जइ चित्त विचित्तज्झाणप्पसिद्धीए ॥४८॥

अर्थ—यदि तुम नाना प्रकार के ध्यान तथा निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि के वास्ते चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्ट रूप जो इंद्रियों के विषय हैं उन में राग, द्वेष और मोह को मत करो ।

भावार्थ—ध्यान चार प्रकार का है । आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ।

आर्त्तध्यान—के चार भेद हैं ।

अनिष्टयोगज— अनिष्ट अर्थात् अप्रिय और दुःखदाई वस्तु का संयोग होने पर उसके दूर करने के लिये बारम्बार चिन्तवन करना ।

इष्टवियोगज—इष्ट अर्थात् प्रिय और सुखकारी वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिये बारम्बार चिन्तवन करना ।

वेदना जनित—राग जनित पीड़ा का चिन्तवन करना अर्थात् सोच करना, अधीर होना आदि ।

निदान-आगामी विषय भोग आदिक की वांछा करना और उसी के विचार में लीन हो जाना ।

इन चार प्रकार के आर्त्त ध्यान में पहले तीन प्रकार के आर्त्त ध्यान तो १, २, ३, ४, ५, और छटे गुणस्थान तक हो सक्ते हैं परन्तु निदान आर्त्तध्यान छटे गुणस्थान में नहीं हो सक्ता है पांच गुणस्थान तक ही हो सक्ता है । आर्त्तध्यान खोटा ध्यान है इसको नहीं करना चाहिये ।

रौद्रध्यान—के भी चार भेद हैं ।

हिंसानन्द—हिंसा करके आनन्द मानना और हिंसा का चिन्तवन करते रहना।

मृषानन्द—झूठ बोलने में आनन्द मानना और झूठही का चिन्तवन करते रहना।

स्तेयानन्द-चोरी में आनन्द मानना और उसी का चिन्तवन करते रहना।

परिग्रहानन्द्-परिग्रह और अपनी विषय सामिग्री की रक्षा करने में आनन्द मानना और उसी की चिन्ता में लगे रहना।

रौद्रध्यान-१, २, ३, ४, और पांचवें गुणस्थान तक हो सक्ता है। यह ध्यान आर्त्त ध्यान से भी अधिक खोटा है।

धर्मध्यान—भी चार प्रकार का है।

आज्ञाविचय—आगम की प्रमाणता से अर्थात् श्रीजिन वाणी के अनुसार पदार्थों के स्वरूप को चिन्तवन करना।

अपाय विचय—इस बात का चिन्तवन करना कि संसार के जीव सच्चे धर्म से अज्ञानी और अश्रद्धानी होकर संसार में ही घूमने का यत्न करते हैं किस प्रकार से यह प्राणी खोटे मार्ग से फिरेंगे और किस प्रकार से जैनधर्म का प्रचार संसार के सब जीवों में होकर धर्म की प्रवृत्ति होगी, समचीन मार्ग तो प्रायः अभाव सा हो गया है इत्यादि सम्मार्ग के अभाव का चिन्तवन करना।

विपाक विचय-पापकर्मों से दुख और पुन्य कर्मों से संसारीक सुख और दोनों के अभाव से मोक्ष की प्राप्ति होती है इस प्रकार कर्म फल को चिन्तवन करना।

संस्थान विचय—लोक के स्वरूप और द्रव्यों के स्वभाव को चिन्तवन करना।

धर्म ध्यान पुन्यबन्ध का कारण है और परम्परा से मोक्ष का भी हेतु है। यह ध्यान चौथे, पांचवे, छठे और सातवें गुणस्थान में ही होता है।

शुक्लध्यान—भी चार प्रकार का है।

पृथक्त्ववितर्कवीचार-द्रव्य गुण पर्याय इनका जो जुदापना है उस को पृथक्त्व कहते हैं। श्रुतज्ञान तथा निज शुद्ध आत्मा का अनुभवन रूप भाव श्रुत अथवा जिन शुद्ध आत्मा को कहने वाला जो अन्तरंग वचन (सूक्ष्मशब्दकल्पन) है वह वितर्क कहलाता है। विना इच्छा किये अपने आप ही एक अर्थ से दूसरे अर्थ में, एक वचन से दूसरे बचन में और मन बचन काय इन तीनों योगों में एक योग से दूसरे योग में जो परिणमन (परिवर्त्तन) होता है उस को बीचार कहते हैं भावार्थ यद्यपि ध्यान करने वाला पुरुष निज शुद्धात्मा के ज्ञान को छोड़ कर बाह्य पदार्थों की चिन्ता नहीं करता अर्थात् निज आत्मा ही का ध्यान करता है तथापि जितने अंशों से उस पुरुष के अपनी आत्मा में स्थिरता नहीं है उतने अंशों से विना इच्छा कियेही विकल्प

उत्पन्न होता है इस कारण से इस ध्यान को पृथक्त्व वितर्क वीचार कहते हैं। तर्क करना विचारना अर्थात् श्रुतिज्ञान वितर्क है। परिवर्त्तन को विचार कहते हैं। यह ध्यान ८, ९, १० और ग्यारहवें गुणस्थान में ही होता है और श्रुत केवली को ही होता है।

एकत्व वितर्क विचार—यह ध्यान तीनों योग में से किसी एक योग वाले के होता है और बारहवें गुणस्थान में श्रुतकेवली को ही होता है।

सूक्ष्म क्रिया प्रतिपति—यह ध्यान काय योग वालों को होता है और तेरहवें गुणस्थान में अर्थात् सयोगी केवली भगवान को ही होता है।

व्युपरत क्रिया निवार्त्ति—यह ध्यान चौदहवें गुणस्थान में अर्थात् अयोगी भगवान को होता है।

पणतीस सोलछप्पण चउदुगमेगं च जवहज्झाएह। परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥४६॥

अर्थ—परमेष्ठी वाचक जो ३५, १६, ६, ५, ४, २, और एक अक्षर रूप मंत्र पद हैं उनका जाप्य करो और ध्यान करो। इनके सिवाय अन्य जो मंत्र पद हैं उनको भी गुरू के उपदेश के अनुसार जपो और ध्यावो।

भावार्थ—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु यह पांच परमेष्टी हैं अर्थात् परम इष्ट हैं इन के ध्यान करने से भावों की शुद्धि और वैराग्य उत्पत्ति होती है।

३५ अक्षर का मंत्र—णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोएसव्वसाहूणं।

१६ अक्षर का मंत्र—अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू। अथवा "अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यो नमः"।

६ अक्षर का मंत्र—अरिहंत सिद्ध, अथवा "नमोऽर्हत्सिद्धेभ्यः"।

५ अक्षर का मंत्र—असिआउसा। अर्थात् पांचों परमेष्टि का प्रथम अक्षर।

४ अक्षर का मंत्र-अरिहंत।

२ अक्षर का मंत्र—सिद्ध।

१ अक्षर का मंत्र—"अ"—अथवा—'ओं'।

अरिहंत का प्रथम अक्षर 'अ' सिद्ध को अशरीरी भी कहते हैं इसका भी प्रथम अक्षर 'अ' आचार्य का प्रथम अक्षर 'अ' उपाध्याय का प्रथम अक्षर 'उ' मुनि का प्रथम अक्षर 'म्' इस प्रकार अ+अ+आ+उ+म् इन पांचों अक्षरों की संधि होकर "ओम्" यह बन जाता है।

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥५०॥

अर्थ—चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाला, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान अनन्त वीर्य का धारक, उत्तम देह में विराजमान और शुद्ध ऐसा जो आत्मा है वह अरिहंत है उस का ध्यान करना उचित है ।

भावार्थ—तेरहवें गुणस्थान वाले सयोग केवली भगवान को अरिहंत कहते हैं । आठ कर्मों में से ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनी और अन्तराय यह चार घातिया कर्म हैं क्योंकि जीव के शुद्ध स्वभाव को भ्रष्ट करते हैं । श्री अरिहंत भगवान के यह चारों घातिया कर्म नष्ट होजाते हैं और इन ही के नाश होने से अपने दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य यह चार गुण प्रगट होते हैं । श्रीअरिहंत भगवान के चार कर्म वेदनी आयु, नाम और गोत्र अभी बाक़ी रहते हैं इस ही कारण श्री अरिहंत भगवान देहधारी होते हैं ।

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्य जाणओदट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो ज्झाएह लोयसिहरत्थो ॥५१॥

अर्थ—जिस का अष्ट कर्म रूपी देह नष्ट होगया है, जो लोक अलोक को जानने देखने वाला पुरुषाकार का धारक और लोक शिखर पर विराजमान है वह आत्मा सिद्ध परमेष्ठी है । उसका ध्यान करो ।

भावार्थ—श्री अरिहंत भगवान तेरहवें गुणस्थान से चौधवें गुणस्थान में जाकर चौधवें गुणस्थान के अन्त मे सर्व कर्मों का नाश कर देते हैं कोई कर्म बाकी नहीं रहता है । कर्मों के समूह को कार्माण शरीर कहते हैं । सर्व कर्मों के नाश होने से कार्माण शरीर भी उनके नहीं रहता है और किसी प्रकार का भी शरीर नहीं रहता है । अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान प्राप्त होने से तेरवेंही गुणस्थान में अर्थात् अरिहंत अवस्थाही में सर्वज्ञ होकर वह लोक और अलोक की सर्व वस्तु को जानने लगे थे । सर्व कर्मों का नाश करके अर्थात् मुक्ति पाकर जिस देह से मुक्ति हुई है उस देह के आकार ऊर्ध्व गमन स्वभाव से लोक के अन्त तक ऊपर जाते हैं आगे धर्म द्रव्य न होने के कारण गमन नहीं है इस हेतु लोक शिखर पर ठहर जाते हैं वह सिद्ध भगवान हैं और ध्यान करने योग्य हैं ।

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी ज्झेओ ॥५२॥

अर्थ—दर्श, ज्ञान, वीर्य चारित्र, और तप इन पांच आचारों में जो आप भी तत्पर होते हैं और अन्य शिष्यों को भी लगाते हैं वे आचार्यमुनि ध्यान करने योग्य हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन में परिणमन करना दर्शनाचार है। सम्यग्ज्ञान में लगना ज्ञानाचार है। वीतराग चारित्र में लगना चारित्राचार है। तप में लगना तपाचार है। इन चारों आचारों के करने में अपनी शक्ति का नहीं छिपाना वीर्याचार है। इन आचारों को जो आप पालते हैं और अपने शिष्यों को इन आचारों में लगाते हैं वे आचार्य परमेष्ठी हैं और ध्यान करने योग्य हैं।

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणेणिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स॥५३॥

अर्थ—जो रत्न त्रय सहित है, निरन्तर धर्म का उपदेश देने में तत्पर है वह आत्मा मुनीश्वरों में प्रधान उपाध्याय परमेष्ठी कहलाता है उसको मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र यह तीन रत्न हैं और रत्न त्रय कहलाते हैं जो रत्न त्रय के धारी हैं और सदा धर्म का उपदेश देते हैं अर्थात् मुनियों को पढ़ाते हैं वह उपाध्याय हैं और ध्यान करने योग्य हैं उनको नमस्कार होवे।

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जोहु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स॥५४॥

अर्थ—जो दर्शन और ज्ञान से पूर्ण, मोक्ष का मार्ग भूत और सदा शुद्ध ऐसे चारित्र को प्रकट रूप से साधते हैं वे मुनी साधु परमेष्ठी हैं उनको मेरा नमस्कार हो।

भावार्थ—सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के विना चारित्र कार्य कारी नहीं है। जो चारित्र सम्यग् दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक है वही मोक्ष का कारण है। ऐसे मोक्ष के कारण भूत और सदा शुद्ध अर्थात् रागद्वेषादि रहित चारित्र को जो मुनि साधन करते हैं वह साधु परमेष्ठी और ध्यान करने योग्य है ग्रंथकर्त्ता श्रीनेमिचंद्राचार्य कहते हैं कि ऐसे साधु परमेष्ठी को मेरा नमस्कार होवे।

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूणय एयत्तं तदाहुतं तस्स णिच्छयं ज्झाणं ॥५५॥

अर्थ--ध्येय पदार्थ में एकाग्रचित्त होकर जिस किसी पदार्थ को ध्याक्ता हुआ साधु जब निस्पृह वृत्ति अर्थात् सर्व प्रकार की इच्छाओं से रहित होता है उस समय वह उसका ध्यान निश्चय ध्यान होता है ऐसा आचार्य कहते हैं ।

भावार्थ--निस्पृह अर्थात् सव प्रकार की इच्छाओं से रहित होकर किसी वस्तु के ध्यान करने को निश्चय ध्यान कहते हैं ।

माचिट्ठह माजंपह माचिन्तह किंवि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मिरओ इणमेवं परं हवं ज्झाणं ॥५६॥

अर्थ--हे ज्ञानी पुरुषो ! तुम कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत विचारो जिससे कि तुम्हारा आत्मा अपने आप में तल्लीन होकर स्थिर हो जावे यह आत्मा में तल्लीन होना ही परम ध्यान है ।

भावार्थ--मन, वचन और काय की क्रिया को रोकने से शुद्ध आत्म ध्यान होता है, अपनी आत्मा में लीन होना ही उत्कृष्ट ध्यान है, पंच परमेष्टी का ध्यान करना तो ध्यान का अभ्यास करने और वैराग्य की उत्पत्ति के अर्थ है, पंच परमेष्टी का ध्यान शुभ ध्यान है पुन्य बंध का कारण है परन्तु शुद्ध ध्यान नहीं है किन्तु शुद्ध ध्यान तक पहुंचने का मार्ग है और क्रम से उन्नति कर पंच परमेष्टी के भी ध्यान को छोड़ कर अपनी आत्मा ही में लीन होना परम ध्यान है साक्षात मोक्ष का कारण है और सर्व प्रकार के संकल्प विकल्पों को दूर करके आत्मा को स्थिर करना ही अपनी आत्मा में तल्लीन होना है यह स्थिरता मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को रोकने से ही प्राप्त होती है ।

तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥५७॥

अर्थ--तप, श्रुत और व्रत का धारक जो आत्मा है वह ही ध्यान रूपी रथ की धुरी को धारण करने वाला होता है इस कारण हे भव्य पुरुषों ! तुम उस ध्यान की प्राप्ति के अर्थ निरन्तर तप, श्रुत और व्रत इन तीनों में तत्पर रहो ।

भावार्थ—तप करने वाला, शास्त्र का अभ्यास करने वाला और व्रत पालने वाला ही शुभ वा शुद्ध ध्यान को कर सक्ता है इस हेतु ध्यान करने के अर्थ सदा ही तप करना शास्त्र पढ़ना और व्रत करना उचित है।

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतुतणुसुत्तधरेण णेमिचन्दमुणिणाभणियंजं ॥५८॥

अर्थ—अल्पज्ञान के धारक मुझनेमिचन्द्रमुनि ने जो यह द्रव्य संग्रह कहा है इस को निर्दोष और पूर्णज्ञानी आचार्य शुद्ध करें।

भावार्थ—यद्यपि श्री नेमिचन्द्र आचार्य जो इस द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ के कर्ता हैं सिद्धान्त चक्रवर्त्ति और एक बड़े भारी विद्वान महर्षि हुए हैं तथापि वह अपनी लघुता प्रगट करते हुए उन श्रीआचार्यों से जो तत्व के जानने में संशयादि दोषों कर रहित हैं और पूर्णज्ञानी हैं प्रार्थना करते हैं कि यदि इस ग्रन्थ में कहीं भूल चूक हो तो शुद्ध कर देवें, सच है जो अधिक विद्वान और सज्जन तथा गुणी होते हैं उनकी ऐसी ही रीति है वह कदापि अपने ज्ञान का घमण्ड नहीं करते हैं।

इति तृतीयोऽधिकारः।

इति श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ति विरचितः वृहद्द्रव्यसंग्रह समाप्तः॥